वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४९ अंक ८ अगस्त २०११
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ८

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २२,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

पुरखों की थाती

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येत्तत्र न पण्डितः ।। ६७।।

– 'यौवन, रूप, जीवन, धन, ऐश्वर्य और प्रियजन का संग – ये सभी अनित्य हैं, अतः बुद्धिमान लोग इनमें नहीं फँसते ।'

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ।।६८।।

– 'अनिष्ट से यदि इष्टसिद्धि हो जाय तो भी उसका फल अच्छा नहीं होता। क्योंकि विष मिला हुआ अमृत भी तो मृत्यु का कारण बन जाता है।'

अलंकारप्रियो विष्णुः जलधाराप्रियः शिवः ।
नमस्कारप्रियो भानुः ब्राह्मणो भोजनप्रियः ।।६९।।

– भगवान विष्णु अलंकार पसन्द करते हैं, शिवजी जलधारा से सन्तुष्ट होते हैं, सूर्य देवता नमस्कार से सन्तुष्ट होते हैं और ब्राह्मण भोजन को प्रिय मानते हैं।

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा, वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ।।७०।

– घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वाणी, पुरुष तथा स्त्री – ये योग्य या अयोग्य व्यक्ति के हाथ में योग्य या अयोग्य सिद्ध होते हैं।

असन्तुष्टा द्विजा नष्टा, सन्तुष्टाश्च महीभुजः ।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ।।७१

– असन्तोषी ब्राह्मण, सन्तुष्ट राजा, लज्जालु वेश्या और निर्लज्ज कुलवधू – ये चारों बरबाद हो जाते हैं।

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव मूत्रितम् ।।७२।।

– क्योंकि बिना विचारे कुछ कहना, भूसी कूटना और नीचों का उपकार करना बालू पर मूत्रत्याग करने जैसा व्यर्थ है।

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।
दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ।।७३।।

– जिसका मन वश में नहीं है, उसकी सभी क्रियाएँ हाथी के स्नान की भाँति निष्फल होती हैं। (तालाब से निकलकर वह पुनः अपनी देह धूल-धुसरित कर लेता है।) आचरण-रहित केवल किताबी ज्ञान विधवा के गहनों की भाँति बोझ-मात्र है।

अविद्वान् अपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलाऽऽसन्नतरुर्यथा ।।७४।।

– 'राजा चाहे मूर्ख ही क्यों न हो, किन्तु ज्ञानीजनों का सेवन करके वह परम श्री को प्राप्त करता है। जैसे कि जल के समीप का वृक्ष सब तरह से सम्पन्न रहता है।'

अश्वमेध-सहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध-सहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ।।७५।।

– 'तराजू के एक पलड़े पर एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरे पर केवल सत्य को रखा जाय, तो उन हजार अश्वमेध-यज्ञों की अपेक्षा सत्य ही अधिक भारी निकलेगा।'

असारे खलु संसारे सारं एतत् चतुष्टयम् ।
काश्यां वासः सतां संगो गंगाम्भः शम्भुसेवनम् ।।७६

– यह संसार निश्चय ही असार है, तथापि इसमें चार चीजें ही सार हैं – वाराणसी में निवास, सन्तों का संग, गंगाजी का जल और शिवजी की उपासना।

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।।७७।।

श्रीराम – हे लक्ष्मण, यह सोने की लंका भी मुझे रुचिकर नहीं प्रतीत होती। अपनी जन्मदात्री माता तथा जन्मभूमि – ये दोनों ही मुझे स्वर्ग से भी कहीं अधिक महान् लगती हैं।

मातृ-वन्दना

– १ –

(चन्द्रकौंस-कहरवा)

ज्यों तू रखती है, त्यों ही रहता हूँ। (माँ)
यश-अपयश सुख-दुख, जननी सहता हूँ।।

तेरी माया में भटका था चिरदिन,
लोभ-मोह-मद में डूबा था तुझ बिन,
अब तो बोध हुआ, पदयुग गहता हूँ।।

पंचभूत यह जग, मृगतृष्णा है सब,
जनम जनम दौड़ा, प्यास बुझी है कब !
स्नेहबिन्दु दे दे, सविनय कहता हूँ।।

तेरे पूजन को, मेरे आकुल प्राण,
है श्मशान तुझको, प्रिय अम्बे यह जान,
चिता बना हृदि को, प्रतिपल दहता हूँ।।

सागर तरने का, कर प्रयास हारा,
पर अब तुझको ही, भार दिया सारा,
तज 'विदेह' पतवार, यूँ ही बहता हूँ।।

– २ –

(बागेश्री–कहरवा)

माँ, असत् कर दूर चित से,
ले चलो सन्मार्ग पर,
घन अँधेरा दूर कर दो,
हृदि-कमल उजियार कर।।

मृत्यु का भय नाश करके,
दो मुझे अमरत्व वर,
निज कृपा की दृष्टि रखना,
सर्वदा दुख-ताप हर।।

– 'विदेह'

धर्मावतार श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

उस बालक को इस प्रकार सत्य-लाभ के लिए छटपटाते अनेक दिन, सप्ताह तथा महीने व्यतीत होते रहे। अब उस बालक को विचित्र प्रकार के दर्शन होने लगे; तरह-तरह के दृश्य दिखने लगे और अपने स्वरूप के विषय में अनेक रहस्य प्रकट होने लगे। मानो एक के बाद एक पर्दा हटता जा रहा हो! साक्षात् जगदम्बा ने ही उनके गुरु का स्थान ग्रहण किया और उन्होंने उस बालक को उसके इच्छित सत्यों में दीक्षित किया। तभी वहाँ एक अद्वितीय विदुषी सुन्दर स्त्री आ पहुँची। इस स्त्री के विषय में मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि वे विद्वान् ही नहीं, अपितु विद्वत्ता की अवतार थीं; मानव देह में साक्षात् विद्वत्ता ही थीं। ...

वे एक संन्यासिनी थीं, क्योंकि भारत में स्त्रियाँ भी संसार त्याग करती हैं, अपनी सारी सम्पत्ति को तिलांजलि दे देती हैं, विवाह नहीं करतीं और अपना पूरा जीवन ईश्वर-सेवा में ही अर्पित कर देती हैं। वे वहाँ आयीं और जब इस बालक के बारे में यह सुना कि वह जंगल में रहता है, तो उन्होंने उसके पास जाने तथा भेंट करने की इच्छा प्रकट की। इन्हीं से उस बालक को पहली सहायता मिली। वे तत्काल उस बालक की समस्या को समझ गयीं और बोलीं, "बेटा, जिसे इस तरह का पागलपन हो, वह व्यक्ति धन्य है। ... (लोग) तुम्हें पागल कहते हैं; परन्तु तुम्हारा पागलपन ही सही है। वह व्यक्ति धन्य है, जो ईश्वर-प्रेम में पागल हो – ऐसे लोग बहुत कम होते हैं।" यह स्त्री कई वर्षों तक उस बालक के पास रही और उसने उसे भारत की विभिन्न धर्म-प्रणालियों के साधन सिखलाये, अनेक प्रकार के योग-साधनों की दीक्षा दी और उनकी आध्यात्मिकता के प्रचण्ड प्रवाह को मार्ग दिखाकर उसे सुव्यवस्थित कर दिया।

इसके बाद उसी उद्यान में एक विद्वान् तथा ज्ञानी संन्यासी (तोतापुरीजी) आये। वे असाधारण व्यक्ति थे। उनका मत था कि जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह सब मिथ्या है। वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि संसार का अस्तित्व वास्तविक है और इसे प्रमाणित करने के लिए वे कभी छत के नीचे नहीं रहते थे। चाहे घनघोर वर्षा हो या कड़ी धूप, वे सदा खुले में ही रहते थे। ये संन्यासी उस बालक को वेदान्त सिखाने लगे और शीघ्र ही उन्हें एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात मालूम हुई और वह यह कि उनका शिष्य कुछ विषयों में अपने गुरु से भी बढ़ा-चढ़ा है। ये संन्यासी उस बालक के साथ कई महीने रहे और उसे संन्यास-मार्ग की दीक्षा देने के बाद उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया।

जब यह बालक मन्दिर का पुजारी था, तभी उसकी विचित्र प्रकार की पूजा देखकर लोगों को भ्रम हुआ कि इसके मस्तिष्क में कुछ हेर-फेर हो गया है, अत: उसके कुटुम्बी उसे घर ले गये और यह सोचकर उसका विवाह एक छोटी-सी कन्या से करा दिया कि शायद इसी रीति से इसके मस्तिष्क का सन्तुलन फिर ठीक हो जाय। .. वह बालक फिर अपने काम पर लौट आया तथा अपने उन्माद में और अधिक डूब गया। ... वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी की बात बिलकुल ही भूल गया।

सुदूर गाँव में स्थित बालिका ने भी सुना कि उसके पति को धर्मोन्माद हो गया है और उन्हें कुछ लोग पागल भी मानते हैं। उसने स्वयं ही सच्चाई का पता लगाने का निश्चय किया। वह अपने घर से निकल पड़ी और वहाँ आ पहुँची, जहाँ उसके पति रहते थे। भारत में यदि कोई स्त्री या पुरुष धर्म के लिए अपना जीवन अर्पित कर देता है, तो उस पर दूसरा कोई बन्धन नहीं रह जाता। तथापि जब वह स्त्री अपने पति के सम्मुख जाकर खड़ी हुई, तो मेरे गुरुदेव ने तत्क्षण अपने जीवन में उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया। वे अपनी स्त्री के चरणों में गिर पड़े और बोले, "जहाँ तक मेरी बात है, जगदम्बा ने तो मुझे दिखा दिया है कि वह प्रत्येक स्त्री में निवास करती है और इसलिए मैं हर स्त्री को माँ के रूप में देखता हूँ। मैं तुम्हें भी केवल इसी दृष्टि से देख सकता हूँ, परन्तु चूँकि मेरा तुमसे विवाह हो चुका है, अत:

यदि तुम्हारी इच्छा मुझे संसाररूपी मायाजाल में खींचने की हो, तो मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।''

वह बालिका अत्यन्त पवित्र तथा उदार हृदय की थी। वह अपने पति की आकांक्षाओं को समझ गयी और उनके प्रति सहानुभूति दिखाते हुए तत्काल बोली, ''आपको सांसारिक जीवन में घसीटने की मेरी इच्छा कदापि नहीं है। मैं तो बस इतना ही चाहती हूँ कि आपके समीप रहूँ, आपकी सेवा करूँ तथा आपसे शिक्षा ग्रहण करूँ।'' वह मेरे गुरुदेव के अन्यतम भक्त शिष्यों में से एक बन गयी और उन्हें साक्षात् ईश्वर मान -कर उनकी सेवा-पूजा करने लगी। इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी की अनुमति से उनका अन्तिम विघ्न भी दूर हो गया और वे अपने मनोनीत पथ पर चलने के लिए स्वतंत्र हो गये।[७]

ऐसी नारी थीं वे! पति अपनी राह पर बढ़ते गये और अन्त में संन्यासी हो गये, परन्तु पत्नी अपने स्थान से ही उनकी यथासम्भव सहायता करती रहीं। बाद में जब वे एक धर्माचार्य बन गये, तब वे आयीं और वस्तुत: वे ही उनकी प्रथम शिष्या हुईं और अपना बाकी जीवन उन्होंने उनकी सेवा में बिताया। उन्हें स्वयं तो कभी पता भी नहीं रहता था कि वे जीवित हैं, मर रहे हैं या कुछ और। बोलते-बोलते कई बार तो वे ऐसे भावाविष्ट हो जाते कि जलते अंगारों पर बैठने पर भी उन्हें कोई बोध नहीं होता था! हाँ, जलते अंगारों पर!! अपने देह की सुधि उन्हें ऐसी ही भूल जाती थी।[८]

इसके बाद इन महापुरुष की इच्छा हुई कि वे विविध धर्मों के सत्य को जानें। तब तक उन्होंने अपने धर्म के सिवा किसी अन्य धर्म के विषय में कुछ भी नहीं जाना था। उन्होंने जानना चाहा कि दूसरे धर्म कैसे हैं! अत: उन्होंने विभिन्न धर्मों के गुरुओं का आश्रय लिया। भारत में गुरु का अर्थ क्या होता है, यह समझना जरूरी है – गुरु कोई किताबी कीड़ा नहीं, वरन् एक ऐसा सिद्धपुरुष होता है, जिसको – किसी मध्यस्थ द्वारा नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा परम सत्य का ज्ञान प्राप्त हो चुका हो। उन्हें एक मुसलमान साधु मिल गये और वे उन्हीं के साथ रहने लगे और उन्होंने जो साधनाएँ बतायीं, उन सबको उन्होंने पूरा किया। मेरे गुरुदेव को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस धर्म की भक्तिपरक पद्धतियों को श्रद्धापूर्वक करने से भी उन्हें उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई, जिसे वे पहले ही पा चुके थे। यही अनुभव उन्हें ईसा मसीह के सच्चे धर्म के पालन से भी हुआ। इसी प्रकार उन्हें जो भी अन्य धर्मपथ मिले, उन सभी को उन्होंने स्वीकार किया और पूरे हृदय से उन सभी की साधनाएँ कीं। जैसा-जैसा उनसे कहा गया, उन्होंने ठीक वैसा-वैसा ही किया और हर बार वे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। इस प्रकार अपने स्वयं के अनुभव द्वारा उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य एक ही है और सभी धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं – अन्तर केवल पद्धति तथा भाषा में रहता है। ...

यह रहस्य मेरे गुरुदेव ने जान लिया और फिर वे परम 'अहं-शून्यता' की साधना में लग गये, क्योंकि वे जान गये थे कि सभी धर्मों का मुख्य भाव है – 'मैं नहीं – सब कुछ तू ही है'; और जो कहता है – 'मैं नहीं' – ईश्वर बस, उसी के हृदय को परिपूर्ण कर देते हैं। .... यह क्षुद्र अहंभाव जितना ही कम होता है, उसमें उतनी ही ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है।... जब-जब उनके मन में कोई साधना करने का विचार आया, तब वे उससे सम्बन्धित सूक्ष्म सैद्धान्तिक विचार में न पड़कर तत्काल उसके अभ्यास में लग जाते। हम कई लोगों को उदारता, समानता, दूसरों के अधिकार आदि अनेक उत्तम विषयों पर बड़ी-बड़ी बातें करते हुए देखते हैं, परन्तु ये बातें केवल सैद्धान्तिक ही होती हैं। मैं परम भाग्यशाली था कि मुझे सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करनेवाले गुरुदेव मिल गये। वे जिस वस्तु को सत्य समझते थे, उसको कार्यरूप में परिणत कर डालने की उनमें अद्भुत शक्ति थी।

उसी स्थान के पास एक भंगी-परिवार रहता था। ... मेरे गुरुदेव किसी भंगी के यहाँ चले जाते और उससे उनके घर की सफाई करने की आज्ञा माँगते। भंगी का कार्य शहर की सड़कों तथा दूसरे के घरों को साफ करना है। ... ब्राह्मण को जन्म से ही शुद्ध माना जाता है और भंगी को अशुद्ध, किन्तु इस ब्राह्मण ने भंगी के ही घर में सेवा करने की आज्ञा माँगी। वस्तुत: भंगी ने उन्हें वह कार्य करने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि वह जानता था कि किसी ब्राह्मण को ऐसा कर्म करने की आज्ञा देना महापाप होगा, जिसके फलस्वरूप उन सभी का निनाश हो जायेगा। अत: भंगी ने उन्हें वह कार्य नहीं करने दिया, परन्तु आधी रात को जब भंगी के घर के सभी लोग सो जाते, तो श्रीरामकृष्ण उसके घर में घुस जाते और अपने लम्बे-लम्बे बालों से ही वह पूरा घर झाड़ते हुए कहते जाते, ''हे जगदम्बे, मुझे भंगी का दास बना दो और मुझे यह अनुभव करा दो कि मैं उससे भी हीन हूँ।'' ...

इसी प्रकार कई वर्षों तक वे अपने को शिक्षित करते रहे। उनकी साधनाओं में से एक स्त्री-पुरुष के भेदभाव को समूल नष्ट कर देने की भी थी। आत्मा निर्लिंग है, वह न स्त्री है, न पुरुष। स्त्री-पुरुष का भेद केवल शरीर में ही है; और जो व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता है, वह ये भेदभाव नहीं मानता। यद्यपि हमारे गुरुदेव ने पुरुष शरीर में जन्म लिया था, परन्तु फिर भी सभी विषयों में वे स्त्रीभाव लाने की चेष्टा करने लगे। वे सोचने लगे कि वे स्वयं पुरुष नहीं, बल्कि स्त्री हैं, अत: स्त्रियों के जैसे कपड़े पहनने लगे, उन्हीं के जैसे बोलने लगे तथा पुरुषों के सब कार्य छोड़कर भले कुटुम्ब की स्त्रियों के बीच में जाकर रहने लगे। इस तरह की नियमित साधना के बाद उनके मन का स्वरूप पलट गया

और उन्हें स्त्री-पुरुष का भेद पूर्णत: विस्मृत हो गया और इस प्रकार जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया।

पश्चिम में हम प्राय: नारी-पूजा की बात सुनते हैं, परन्तु यह पूजा प्राय: उनके यौवन तथा लावण्य के कारण ही होती है, परन्तु मेरे गुरुदेव के नारी-पूजा का भाव यह था कि प्रत्येक स्त्री का मुखारविन्द उन आनन्दमयी जगदम्बा का ही मुखारविन्द है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि जिन स्त्रियों को समाज स्पर्श तक नहीं करता, मेरे गुरुदेव उनके चरणों में गिर पड़ते और रोते हुए उन स्त्रियों से कहते, "हे जगन्माता, एक रूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे रूप में तुम जगद्-व्यापिनी हो। हे जगदम्बे, हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।"

सोचकर देखो, उनका जीवन कितना धन्य है, जिनका कामभाव पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, जो प्रत्येक नारी का भक्तिभाव से दर्शन कर रहे हैं तथा जिनके लिये हर नारी के मुख ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया है, जिसमें साक्षात् आनन्दमयी भगवती जगद्धात्री का मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। ... यदि हम वास्तविक धर्मलाभ करना चाहते हैं, तो इस प्रकार की पवित्रता अनिवार्य है।

मेरे गुरुदेव के जीवन में ऐसी ही विशुद्ध पवित्रता आ गयी और सामान्य मनुष्य जीवन में जो नाना प्रकार के द्वन्द्व होते हैं, वे सब उनके लिए नष्ट हो गये। अपना तीन-चौथाई जीवन कठोर तपस्याओं में बिताकर उन्होंने जो आध्यात्मिक सम्पदा अर्जित की, वह सब मानव-जाति को प्रदान करने हेतु तैयार थी; और तब उन्होंने जगत् में अपना प्रचार-कार्य आरम्भ किया। उनकी शिक्षाएँ तथा उपदेश कुछ विलक्षण प्रकार के थे। हमारे देश में सबसे अधिक आदर तथा सम्मान गुरु को मिलता है और उनके प्रति हमारी ऐसी श्रद्धा रहती है कि हम उन्हें साक्षात् ईश्वर ही मानते हैं। उतनी श्रद्धा तो हमारी अपने माता-पिता के प्रति भी नहीं होती। माता-पिता हमें केवल जन्म ही देते हैं, परन्तु गुरु हमें मुक्ति-मार्ग दिखाते हैं। हम गुरु की सन्तान हैं – उनके मानस पुत्र हैं। विशेष महापुरुषों का दर्शन करने के लिये हिन्दू लोग हजारों की संख्या में जाते हैं और वे उसके चारों ओर भीड़ लगा देते हैं। मेरे गुरुदेव एक ऐसे ही महापुरुष थे, परन्तु उनको इस बात का ध्यान ही नहीं था कि उनको मान-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए या नहीं। उन्हें इस बात का रंचमात्र भी भान नहीं था कि वे एक बड़े गुरु हैं। उनको तो यही ध्यान था कि जो कुछ हो रहा है, वह सब जगदम्बा ही करा रही हैं और वे स्वयं कुछ भी नहीं कर रहे हैं। वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है, तो वे जगदम्बा के ही शब्द होते हैं – मैं स्वयं कुछ नहीं कहता। अपने प्रत्येक कार्य के विषय में उनका यही विचार रहता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा।

मेरे गुरुदेव किसी को ढूँढ़ने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को सर्वप्रथम चरित्रवान होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे, "जब कमल खिलता है, तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं – इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्ररूपी कमल पूर्ण रूप से खिल जायेगा और जब तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि सारे फल तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगे।" हम सब लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ी शिक्षा है। मेरे गुरुदेव ने यह शिक्षा मुझे सैकड़ों बार दी, परन्तु फिर मैं इसे प्राय: ही भूल जाता हूँ।[९]

(श्रीरामकृष्ण) ने तांत्रिक साधनाएँ भी कीं, पर उस तरह (परम्परागत ढंग) से नहीं। जहाँ मदिरापान का विधान होता, वहाँ वे उसकी एक बूँद मात्र को अपने मस्तक से छुला देते। तांत्रिक साधना में फिसलने का काफी भय होता है।[१०]

श्रीरामकृष्ण तो रो-रोकर जगन्माता से प्रार्थना किया करते थे, "माँ, मुझसे बातें करने के लिए मेरे पास एक तो ऐसा भेज दो, जिसमें काम-कांचन का लेश मात्र भी न हो। संसारी लोगों से बातें करते हुए मेरा मुँह जलने लगता है।" वे यह भी कहा करते थे "मुझे अपवित्र और विषयी लोगों का स्पर्श तक सहन नहीं होता।"[११]

(प्रश्न – प्रत्येक राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ गुणों के आधार पर उसका मूल्यांकन करने का अभ्यास आपको कैसे हुआ?) उत्तर – अवश्य ही यह श्रीरामकृष्ण परमहंस की शिक्षा के फलस्वरूप हुआ होगा। हम सभी यथासम्भव उन्हीं के मार्ग पर चले थे। वैसे उन्हें इसके लिये जैसी कठोर साधना करनी पड़ी, वैसी हमें नहीं करनी पड़ी थी। वे जब जिस तरह के लोगों को समझना चाहते, तब उन्हीं के तरह का भोजन तथा वेशभूषा अपनाते, उन्हीं से दीक्षा लेते और उन्हीं की भाषा का प्रयोग करते। उन्होंने कहा था, "हमें उस व्यक्ति की अन्तरात्मा में स्वयं को स्थापित कर देना सीखना होगा।" यह उनकी खास अपनी शैली थी। उनके पूर्व भारत में कोई भी इस प्रकार बारी-बारी से ईसाई, मुसलमान तथा वैष्णव नहीं बना![१२]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

७. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ७, पृ. २५१-५४; **८.** वही, खण्ड १०, पृ. ११; **९.** वही, खण्ड ७, पृ. २५४-५७; **१०.** वही, खण्ड ८, पृ. २४२; **११.** वही, खण्ड ३, पृ. १८५; **१२.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ३३२; The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. १९५

जीवन का संग्राम

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

यह जीवन-संग्राम बड़ा विकट है। मनुष्य को तीन क्षेत्रों में यह संग्राम लड़ना पड़ता है। एक तो वह है, जहाँ मनुष्य प्रकृति से लड़ता है; दूसरा वह जहाँ मनुष्य मनुष्य से लड़ता है; और तीसरा वह है, जहाँ मनुष्य अपने आप से लड़ता है। इन तीनों युद्धों के रण-कौशल भिन्न-भिन्न होते हैं। पहली लड़ाई के लिए मनुष्य भौतिक-विज्ञान से सहायता लेता है, दूसरी के लिए वह समाज-विज्ञान से और तीसरी के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेता है। कभी उसे सफलता मिलती है, तो कभी विफलता। जब वह विफल होता है, तब इस संग्राम से विरत होने का विचार करता है। उसे लगता है कि दुनिया एक झमेला है और इसे छोड़कर मुझे कहीं जंगल में चले जाना चाहिए। वह बारम्बार संसार से पलायन की बात सोचता है। पर क्या जीवन-संग्राम को छोड़कर भाग जाना उसकी समस्या का समाधान कर सकेगा? मनुष्य भ्रम में पड़ कर सोचने लगता है कि बाहरी परिस्थितियों में परिवर्तन से उसे शान्ति मिल सकेगी। वस्तुत: शान्ति तो उसके स्वयं के ही भीतर है। जंगल में जाने मात्र से शान्ति नहीं मिल जाती। शान्ति पाने के लिए हमें बाहरी परिस्थितियों में नहीं, स्वयं अपने भीतर परिवर्तन लाना पड़ेगा। मेरे पैर में काँटा गड़ जाने से यदि मैं यह सोचूँ कि दुनिया के सारे काँटे मैं जला कर भस्म कर दूँगा, तो यह मेरी नितान्त नादानी ही होगी। उचित यह होगा कि मैं जूते पहनकर चलूँ, जिससे काँटे का कष्ट मुझे न झेलना पड़े। वर्षा के कष्ट से दुखी होकर मैं यदि सोचूँ कि वर्षा को ही बन्द कर दूँ, तो यह सम्भव नहीं। उचित यह है कि मैं छाता खोलकर अपने को वर्षा के कष्ट से बचा लूँ। अत: जीवन-संग्राम से जूझने के लिए हमें अपने मन में परिवर्तन लाना होगा, अपनी दृष्टि बदलनी होगी।

हम पढ़ते हैं कि अर्जुन ने एक महाभारत लड़ा। हमारे भी भीतर एक महाभारत चल रहा है। अर्जुन का महाभारत तो अठारह दिन में समाप्त हो गया, पर हमारे भीतर का महाभारत जाने कब से अनवरत चला हुआ है और रुकने का नाम नहीं लेता। हमारे भीतर भी दो सेनाएँ हैं - एक है देवताओं की यानी शुभ प्रवृत्तियों की सेना और दूसरी है असुरों की यानी अशुभ प्रवृत्तियों की सेना। देवासुर-संग्राम प्रत्येक मुनष्य के अन्तर में चला हुआ है। अच्छाई और बुराई की यह ठनाठनी क्षण-प्रतिक्षण चल रही है।

हमारे भीतर आत्मा की आवाज उठती है, फिर शैतान भी अपने बोल सुनाता रहता है। आत्मा की आवाज हमें कुपथ में जाने से रोकती है, हमें सावधान करती है कि कहीं असुरों के फन्दे में न पड़ जाना। वह हमारा सही सही मार्गदर्शन करती है। पर शुभ की यह आवाज बहुधा क्षीण होती है। दूसरी ओर अशुभ मानो बुलन्द आवाज में हमसे कहता है, "अरे, यह क्या अच्छाई-अच्छाई की रट लगा रखी है। संसार में कहीं अच्छाई है भी? छल-प्रपंच, कपट-द्वेष का ही नाम तो संसार है। अगर आगे बढ़ना है, तो दूसरों को छलो। अगर संसार में बचे रहना है, तो दूसरों को ठगो, सबसे धोखाधड़ी करो, येन-केन-प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करो।" और हम इन दो आवाजों के बीच विभ्रमित हो खड़े हो जाते हैं। हमें कुछ सूझ नहीं पड़ता। बलात् हमारे पैर असुर-सेना की ओर खिंचने लगते हैं। तब मन के किसी अज्ञात कोने से एक धीमा-सा स्वर सुनायी पड़ता है, "मैं तुम्हारा शुभाकांक्षी हूँ। मैं तुम्हारे भीतर का शुभ हूँ, देवता हूँ, भले अभी शिथिल हूँ, पर पूरी तरह से सोया नहीं हूँ। जिस रास्ते तुम कदम बढ़ा रहे हो, उससे तुम्हारा अमंगल ही होगा।" और तब मेरे पैर ठिठक जाते हैं। हृदय के भीतर मन्थन होने लगता है। एक ओर संसार के सुनहले सपने, तड़क-भड़क का प्रलोभन, आमोद-प्रमोद का जीवन, इन्द्रियों को उत्तेजित और तृप्त करने के साधन, और दूसरी ओर जीवन के शाश्वत मूल्यों की झाँकी, इन्द्रियों और मन के स्वामी बनने का दृश्य, त्याग और संयम का जीवन, सेवा और दूसरों के काम आने का भाव। और इन दोनों के बीच हम मथित होने लगते हैं। यह मन्थन ही हमारे पौरुष को जागृत करता है और हमें जीवन-संग्राम का यथोचित रूप से सामना करने की शक्ति प्रदान करता है। यदि हम अपने इस जागृत हुए पौरुष का संयोग अपने भीतर की शुभ शक्तियों की सेना के साथ करते हैं, तो भौतिक-विज्ञान, समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान की रचनात्मक और रक्षणात्मक शक्तियाँ हमारी सहायता के लिए सामने आती हैं। फलस्वरूप, हम निश्चय ही जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं तथा शान्ति के अधिकारी बनते हैं। ❑❑❑

साधना, शरणागति और कृपा (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

भगवान शंकर और पार्वती के विवाह में भी इसी 'समर्पण' का संकेत मिलेगा। उस समय शंकरजी ने क्या दृश्य खड़ा कर दिया? साँप और बिच्छुओं को लपेटे हुए, चिता के भस्म और नग्न जाकर दूल्हे के रूप में खड़े हो गये। क्या इसके बिना विवाह नहीं हो सकता था? हो सकता था, पर भगवान शंकर इतने कृपालु हैं कि समर्पण के पहले वे वह वृत्ति उत्पन्न करना चाहते थे, जो समर्पण के लिये परम आवश्यक है। मान लीजिए शंकरजी बहुत सुन्दर दूल्हे का वेश बनाकर पहुँच जाते। उनका बड़ा भव्य स्वागत होता, सोने की थाली में उनकी आरती उतारी जाती। दूल्हे को भीतर ले जाया जाता। हिमांचल और मैना कन्यादान करते, पर वह विवाह 'समर्पण' नहीं होता, कन्यादान मात्र होता। दान करनेवाले में – 'मैं देनेवाला हूँ' – यह वृत्ति तो बनी रहती है।

परिणाम क्या हुआ? देने की कितनी प्रबल वृत्ति थी, पर शंकरजी को पागल के रूप में देखा, तो इस दूल्हे की आरती कौन करे, मैना ने थाल ही पटक दिया; और पार्वती से यहाँ तक कह दिया कि मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं तुम्हें साथ लेकर पर्वत से कूद पड़ूँगी, समुद्र में डूब जाऊँगी, आग में जल जाऊँगी, आत्महत्या कर लूँगी – लेकिन किसी भी हालत में इस पागल से तेरा विवाह नही करूँगी –

तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं
पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं ।
घरु जाउ अपजसु होउ जग
जीवत बिबाहु न हौं करौं।। १/९६

यह देख मैना की सखियाँ रो पड़ी। मैना बुद्धिवृत्ति है। इन्हीं से श्रद्धारूपा पार्वती का जन्म हुआ। बुद्धि में ही श्रद्धा का उदय होता है। पर बुद्धि बहुधा अपना स्वभाव नहीं छोड़ पाती। वह अपनी ही कसौटी पर सबको कसना चाहती है, पर उसकी कसौटी पर वे खरे नहीं उतर रहे हैं। तब विलाप करती हुई मैना को नारदजी की याद आ गई – ये बाबाजी ही तो सारे अनर्थ की जड़ हैं। कितना बुरा है यह साधु ! अरे, उसके तो घर-बार है ही नहीं – न पत्नी है, न परिवार। बाँझ स्त्री भला क्या जाने कि बच्चे को जन्म देने में कितनी पीड़ा होती है। यह महात्मा बड़ा कपटी है –

नारद कर मैं काह बिगारा ।
भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा ।।
साचेहुँ उन्ह कें मोह न माया ।
उदासीन धनु धामु न जाया ।। ...
बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा ।। १/९७/१-४
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा ।
आपु सरिस सबही चह कीन्हा ।। १/७९/४

बड़ी रुष्ट हो गई। यहाँ एक व्यावहारिक बात आती है। पार्वतीजी जगज्जननी हैं। वे चाहतीं, तो मैना को तत्त्वज्ञान का उपदेश देतीं, लेकिन बिल्कुल नहीं दिया। रामायण में वर्णित प्रत्येक घटना का एक सांकेतिक अर्थ है। पार्वतीजी चाहतीं, तो अपने स्वरूप का परिचय दे देतीं, शिवजी की महिमा बता देतीं, परन्तु यह कार्य उन्होंने क्यों नहीं किया? – इसलिये कि ईश्वर का बोध कराना, यह गुरु का कार्य है –

बिनु गुर होइ कि ग्यान ... ।। ७/८९ क

वे जानती हैं, परन्तु उसके मूल में एक दूसरा सूत्र भी है और वह हम सब के लिये बड़ा व्यावहारिक सूत्र है। कई लोगों का अभ्यास होता है कि दूसरे कि जीवन में कोई घटना हो, तो इतनी ऊँची बात कहेंगे कि इससे वे अपनी ऊँचाई भले प्रगट कर दें, पर बेचारे सामनेवाले के लिये उससे कोई सन्तोष नहीं होता। कहते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि वह जो हम कह रहे हैं, कहीं वह केवल हमारी बुद्धि और अहंकार का प्रदर्शन न हो – केवल यह दिखाने का भाव न हो कि हम कितने ज्ञानी, कितने विरागी है, कितने ऊँचे हैं। पार्वतीजी ने वही कहा, जो बिल्कुल व्यावहारिक और सांसारिक भाषा है। वे बोलीं – माँ, तुम क्यों कलंक लेती हो? व्यक्ति के मस्तक पर जो सुख-दुःख लिखा है, प्रारब्ध के रूप में जो उसके कर्म का परिणाम मस्तक पर लिखा है, उसे वही मिलता है। यदि मेरे मस्तक में पागल पति ही लिखा है, तो तुम क्या कर लोगी। तुम्हें सोचना चाहिए कि यह मेरा कर्म है, मेरा प्रारब्ध है, इसमें तुम क्या कर सकती हो? –

करम लिखा जौं बाउर नाहू ।
तौ कत दोसु लगाइअ काहू ।।
तुम्ह सन मिटहिं कि बिधि के अंका ।

मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ।। १/९७/७-८
जनि लेहु मातु कलंकु करुना
परिहरहु अवसर नहीं ।
दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें
जाब जहँ पाउब तहीं ।। १/९७

पार्वतीजी ने व्यावहारिक जगत् की एक छोटी-सी बुद्धिमती बालिका के समान अवसर के अनुसार अपनी बात कहा। उनका संकेत यह था कि मान लो आज तुम किसी योग्य व्यक्ति को मेरे लिए पति के रूप में चुन दो और कल वह पागल हो जाय, तब तुम क्या करोगी? यदि मेरे भाग्य में पागल पति ही है, तब तुम क्या कर सकती हो? तुम सोचो, विचार करो। लेकिन माँ को सन्तोष नहीं हो रहा है।

उधर समाचार मिला कि नारदजी आए हैं। वे लोग तो प्रतीक्षा में बैठे ही थे। बड़ी हड़बड़ी मच गयी। न जाने क्या होगा? नारदजी को सूचना मिल चुकी है कि मैना इतनी क्रुद्ध हैं कि आप भूलकर भी सामने न जाइएगा। नारदजी सप्तर्षियों से बोले – मेरा अकेले जाना ठीक नहीं होगा, आप सातो महात्मा मेरे साथ चले चलिए। सभी एक साथ पहुँच गये।

तब मैना के अन्त:करण की वृत्ति में संशोधन हुआ। 'समर्पण' के पहले जिस वृत्ति का उदय होना चाहिये था, वह इस प्रसंग के बिना हो नहीं सकता था। नारदजी उपदेश देने लगे। मैना को संकोच तो हो रहा था, पर उन्हें सुनना ही पड़ा। नारदजी बोले – आप अपनी कन्या को लेकर इतनी चिन्तित क्यों हैं? मैना को थोड़ा क्रोध आ गया। – यह क्या पूछ रहे हैं आप? अपनी कन्या के लिये मैं चिन्ता नहीं करूँगी, तो क्या आप करेंगे? नारदजी बोले – पहले यह निश्चित हो जाय कि ये आपकी बेटी हैं या आप इनकी बेटी हैं? यहीं से प्रारम्भ किया – जिसे तुम अपनी पुत्री मानती हो, उसे तुम नहीं जानती। वस्तुत: ये जगज्जननी हैं और तत्त्वत: ये तुम्हारी पुत्री नहीं, बल्कि तुम्हीं इनकी पुत्री हो। यदि वे तुम्हारी चिन्ता करतीं, तो समझ में आता; परन्तु तुम व्यर्थ ही उनकी चिन्ता के बोझ को अपने सिर पर डाल रही हो। सुना है कि तुम कहती हो कि उस पागल से पार्वती का विवाह नहीं करूँगी। तुम्हें पता है कि ये कहाँ रहती हैं? तुम्हारे घर में तो अभी आईं हैं और विवाह हो जाने पर तुम्हारे घर से फिर चली जाएँगी। जानती हो – ये रहती कहाँ हैं? ये सदा भगवान शंकर की गोद में नहीं, उनके आधे अंग के रूप में निवास करती हैं। ये सृष्टि को जन्म देनेवाली, उसका पालन करनेवाली और संहार करनेवाली हैं –

जगदम्बा तव सुता भवानी ।।
अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि ।
सदा संभु अरधंग निवासिनि ।।
जग संभव पालन लय कारिनि । १/९८/२-४

जब मैना ने नारदजी का यह उपदेश सुना, तो सत्संग का प्रभाव हुआ। बड़ी चकित हुईं। सत्संग के द्वारा सचमुच ही उन्हें वह दृष्टि मिल गई। तात्पर्य यह कि ईश्वर की प्राप्ति होने के बाद भी, ईश्वर के सामने होने पर भी भ्रम-सन्देह बना रह सकता है। पर गुरु या सन्त के द्वारा जब उसे तत्त्वत: स्पष्ट कर दिया जाता है, तब भ्रान्ति मिट जाती है। हीरा बड़ा कीमती है, परन्तु वह तब तक किसी व्यक्ति को अपने मूल्य का भान नहीं करा सकता, जब तक कि हीरे का मूल्य जानने वाला कोई जौहरी न बता दे कि यह हीरा है और इसका इतना मूल्य है। गुरु जौहरी और ईश्वर हीरा है। वह हीरा है या काँच – यह निर्णय केवल जौहरी ही करेगा। गुरु के मुख से वह उपदेश सुनकर मैना को बड़ा आनन्द आया और सबसे पहले उन्होंने क्या किया? हिमांचल और मैना – दोनों ने भगवती पार्वती के चरणों में बारम्बार साष्टांग प्रणाम किया –

तब मैना हिमवंतु अनंदे ।
पुनि पुनि पारबती पद बंदे ।। १/९९/१

उसके बाद कन्यादान की विधि के समय वह वृत्ति नहीं रह गयी थी कि मैं अपनी पुत्री शंकर को दे रहा हूँ। अब तो वे बड़े प्रभावित थे – देखो, इतनी बड़ी कृपा है, अपनी शक्ति को मेरी पुत्री के रूप में मेरे घर में भेज दिया। हमें माता-पिता बनने का सौभाग्य दिया और स्वयं लेनेवाले बन कर अपनी ही वस्तु लेने आ गये, यही 'समर्पण' की वृत्ति उदित करने के लिये भगवान शंकर ने इतना बड़ा नाटक किया था।

यही संकेत धनुष टूटने के सन्दर्भ में है। कहीं यह भ्रम न हो जाय कि मैंने इतनी बड़ी वस्तु सामने रखी, उसके लिये ऐसा कुछ हुआ। समर्पण के पहले वृत्ति होनी चाहिये और इसीलिए जब जनक भी कन्यादान करने लगे, तो किसकी याद आई? वही हिमांचल की कथा याद आई –

हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई ।
तिमि जनक रामहि सिय समरपी ... ।। १/३२३/१

यह समर्पण की पराकाष्ठा है। इस पूरी यात्रा में – चाहे वे विश्वामित्र जैसे ब्रह्मर्षि हों, या जनक जैसे राजर्षि हों और इतना ही क्यों, चाहे स्वयं अंशावतार परशुरामजी महाराज ही हों – हर बड़े-से-बड़े पात्र को इस समर्पण की यात्रा में ही उनके जीवन के चरम आनन्द की अनुभूति होती है। उस दृश्य में, जहाँ परशुरामजी का श्रीराम से वार्तालाप होता है, तो उन्हें लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि पूर्णावतार होने की जो बात थी, वह इन्हीं के रूप में सामने आ गया है। तब उन्होंने श्रीराम से कहा – यह विष्णु का धनुष है। इसे तुम खींच लो, तो मेरा सन्देह मिट जायगा –

राम रमापति कर धनु लेहू ।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू ।। १/२८३/७

परन्तु भगवान राम ने बड़ा कौतुक किया। उन्होंने हाथ आगे नहीं बढ़ाया, बल्कि धनुष स्वयं भगवान के हाथ में आ गया। यहाँ भी वही समर्पण की बात है। यदि परशुरामजी देते, तो लगता कि मैंने अपने पास का धनुष इनको दिया। परन्तु उन्होंने देखा कि भगवान राम ने हाथ आगे नहीं बढ़ाया, बल्कि धनुष स्वयं ही परशुरामजी के हाथ से निकलकर श्रीराम के हाथ में चला गया और चढ़ गया –

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ ।। १/२८४/८

दृष्टान्त के रूप में मान लीजिये कि मेले में किसी को एक बालक मिल जाय। बालक खोया हुआ हैं। वह व्यक्ति बालक के मिलने की सूचना घोषित करा दे कि वह जिसका भी हो, प्रमाण देकर ले जाय। परन्तु जब उसका वास्तविक पिता सामने आयेगा, तो वह कोई प्रमाण देगा क्या? प्रमाण देने की आवश्यकता ही नहीं होगी। क्योंकि जो खोया हुआ बालक है, वह ज्योंही अपने पिता को देखेगा, स्वयं उछलकर उसकी गोद में चला जायगा। बस सिद्ध हो गया। तो धनुष ने कहा कि इनको प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि आप ही मुझ खोये हुए धनुष को बहुत दिनों से ढो रहे थे, अब तो मैं जिसका हूँ और जो मेरे हैं, मैं उसके पास जा रहा हूँ। मानो उस समर्पण के मूल में भी देने की बात नहीं है। आपने अपनी वस्तु नहीं दी है। धनुष कहता है – मैं तो इन्हीं का हूँ, इसलिए अपने आप जा रहा हूँ।

सर्वत्र समर्पण ही यात्रा की पराकाष्ठा है। चाहे महानतम अंशावतार परशुरामजी हों, राजर्षि जनक हों या महर्षि विश्वामित्र हों, पूरी यात्रा में सूत्र वही है – नदी समुद्र में समर्पित हो जाय – इसी में जीवन की धन्यता है, परिपूर्णता है।

विचारवान व्यक्ति के मस्तिष्क में यह बात आनी चाहिए कि ये वस्तुएँ क्या मेरी हैं? क्या मैं इन पर अधिकार रख सकता हूँ? बड़ा सुन्दर संकेत है। महाराज मनु के मन में जब यह बात आई, तब उन्होंने अपने मन को जाँच कर देखा। उनको लगा कि अभी मुझे विषयों से वैराग्य तो नहीं हुआ है, किन्तु मैं त्याग करूँगा। क्या संकेत हैं? वैराग्य मन से होता है और त्याग अपनी बुद्धि से विचारपूर्वक कर सकते हैं। उदाहरणार्थ मिठाई किसी को प्रिय हो और मिठाई के प्रति आकर्षण उसके मन से न दूर हो, परन्तु डॉक्टर आकर कह दे कि मिठाई से तो आप बीमार हो सकते हैं, मर सकते हैं। तो क्या वह यह कहेगा कि आप कहते तो हैं, पर मेरा मन तो मिठाई की ओर ही जायगा, मैं मिठाई खाना नहीं छोड़ सकता! तब तो डाक्टर यही कहेगा कि तो फिर मरो। यदि तुम यहीं समझते हो कि तुम्हारा मन जाता है, तो नहीं छोड़ सकोगे, तो मृत्यु निश्चित है। अत: यदि विराग न भी हो, पर समझ आ गई हो कि संसार हमारे लिए कल्याणकारी नहीं है और हम विराग की प्रतीक्षा करते रहें कि जब पूर्ण वैराग्य होगा, तभी हम त्याग करेंगे, तो यह तो सही क्रम नहीं। दान देने का भी अभिप्राय यही है। लिखा है कि अभिमान छोड़कर दान करना चाहिए। अब अभिमान छोड़कर दान करना चाहिए। अब यदि कोई इसी वाक्य को महामंत्र बनाकर बैठ जाय कि 'अभिमान छोड़कर दान करना चाहिए' और दान न दे। उससे पूछा जाय – दान क्यों नहीं करते? तो कहे – शास्त्र में लिखा है कि 'अभिमान छोड़कर दान करना चाहिए', तो जब अभिमान छूटेगा, तब हम दान देंगे। फिर तो जीवन भर दान नहीं होगा। कृपणता के लिये तो यह बहुत अच्छा मंत्र है। इसलिए शास्त्र कहते हैं – ऐसी बात नहीं है। अभिमान छोड़ करके दान करना सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु किसी भी तरह से दो – संकोच से दो, डर के मारे दो, लोभ से दो – **श्रिया देयं ह्रिया देयं भिया देयम्** (तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा.,११/३) –

रामायण में इसी का उल्लेख किया गया है – धर्म के चार पद प्रसिद्ध हैं (सत्य, दया, तप तथा दान), परन्तु कलियुग में केवल एक दान ही प्रमुख है। दान चाहे जिस विधि से किया जाय, कल्याण ही सम्पन्न करता है।

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान ।। ७/१०३

परन्तु आप इसके साथ नई-नई शर्तें जोड़ दें कि उचित अधिकारी को दूँगा या अभिमान छूटेगा, तो दूँगा। तो इन शर्तों का परिणाम यह होगा कि आप कभी देंगे ही नहीं। यह तो शास्त्र का बड़ा दुरुपयोग होगा। यदि आप कहें कि अभी वह ऊँची स्थिति नहीं आई है, तो उसका अर्थ होगा कि व्यक्ति उसका श्रीगणेश ही न करे।

महाराज मनु अपने को धोखा नहीं देते। वे सोचते हैं – यह ठीक है कि मेरे अन्त:करण में वैराग्य नहीं हुआ है, पर मुझे यह समझ में आता है कि जीवन का जो चरम लक्ष्य है, वह यह संसार नहीं हो सकता। ईश्वर को पाना ही जीवन की परम सार्थकता है। इस संसार में सब कुछ पा लेने के बाद भी, धर्म-पालन के फलस्वरूप स्वर्ग को पा लेने पर भी, यही तो जीवन का लक्ष्य नहीं है! स्वर्ग भी जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य तो ईश्वर को पाना ही है। इसलिए मनु यह निर्णय करते हैं कि मुझे त्याग करना है। विराग रहित होकर भी वे त्याग करते हैं। रामायण में सामाजिक सन्दर्भ भी बड़े सुन्दर हैं। मनु ने अपने पुत्र को बुलाया और कहा कि अब मैं चाहता हूँ कि तुम राज्य को स्वीकार करो और इसे चलाओ। पुत्र ने कहा – "नहीं, आप जैसे इस राज्य को चलाते रहे हैं, वैसी क्षमता, वैसी योग्यता मुझमें नहीं है। कृपया यहीं रहकर आप साधना करें, योगाभ्यास करें। वन में जाने का कष्ट न करें।" पर वे बोले – नहीं, मैं तो निश्चित रूप से जाऊँगा।

इसे सामाजिक सन्दर्भ में देखें – परिवारों में बहुधा यह संघर्ष देखने में आता है कि व्यक्ति अन्तिम क्षण तक अपना राज्य देना नहीं चाहता। राज्यों के इतिहास में यह बात बहुत बार आती है कि यदि राजा दीर्घायु है, तो पुत्र को इसी बात की चिन्ता रहती है कि यह कब मरे, तो हमें राज्य मिले। इसका विकृत रूप भी इतिहास में मिलता है कि वृद्ध राजा को कारागार में डालकर या विष देकर भी राज्य पाया गया था। यहाँ सूत्र क्या है? इसका सामंजस्य तभी होगा, जब देनेवाले के हृदय में उदारता की वृत्ति होगी और वह वस्तु को समय पर देने के लिये प्रस्तुत होगा, तो उसका परिणाम होगा कि पानेवाले के मन में भी श्रद्धा होगी, आदर होगा, कृतज्ञता होगी। परन्तु यदि हम बलात् किसी वस्तु को पकड़े रहेंगे, तो निश्चित है कि प्रतिक्रिया हुए बिना रह नहीं सकती।

इसीलिये महाराज मनु के प्रसंग में गोस्वामीजी ने एक शब्द जोड़ दिया। और वह बहुत बढ़िया शब्द है – बरबस –

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा ।। १/१४३/१

इस 'बरबस' शब्द में संकेत यह है कि एक ओर मनु कह रहे हैं कि मैं राज्य छोड़ूँगा और पुत्र कहता है कि नहीं नहीं, आप रहिए। इसमें कितनी शोभा है! परन्तु यदि पुत्र कहे – "अब तो आप बूढ़े हो गये हैं, झंझट में क्यों पड़े हैं? क्या करना है आपको? अब तो माला लेकर पड़े रहें, व्यर्थ का हस्तक्षेप करते रहते हैं।" और पिता बार-बार पुत्र को झिड़कता रहे कि तुम यह क्या कर रहे हो, यह क्या कर रहे हो? ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध कितना कटु हो जाता है, कितना विषाक्त हो जाता है!

देने का आनन्द तभी है, जब आप देने की स्थिति में हों। वह छोटी-सी व्यंग्यात्मक बात है। एक नवयुवक ट्रेन में यात्रा कर रहे थे। एक वृद्ध भी आए। जगह नहीं थी, युवक के बगल में बैठने की चेष्टा की, तो युवक बोला – नहीं, यहाँ स्थान नहीं है। तो बेचारे बूढ़े खड़े रहे। जब वह स्टेशन आया, जहाँ युवक को उतरना था, तो उतरने से पहले वह उन वृद्ध सज्जन से बोला – लीजिए, मैं आपको अपनी सीट दिये जा रहा हूँ। वृद्ध ने कहा – "क्यों दिये जा रहे हो, साथ ही लेते जाओ न।" जब आप ले नहीं जा सकते, तब कहें कि मैं दे रहा हूँ। आप जब दे सकते थे, उसी समय आपका देना सार्थक था। जब आप दे नहीं सकते, तो कह रहे हैं कि दे रहा हूँ। कोई अपनी मृत्यु के क्षण में अपने बेटे से कहे कि मैं तुम्हें सब दे जा रहा हूँ, तो यह कितनी हास्यास्पद बात है! देकर क्या जा रहे हैं, ले जा सकते हों तो ले जाइये। कोई योजना भी बनावे, तो वह यहीं रह जाता है।

मनु ने सचमुच ही कैसी मर्यादा का पालन किया, समय रहते हुए ही दे दिया और लेनेवाले के मन में लोभ की वृत्ति नहीं है। उनके पुत्र कैसे योग्य थे कि मनु ने उन्हें राज्य देना चाहा, परन्तु पुत्र ने बार बार कहा – नहीं, नहीं, आप यहीं रहें। परन्तु मनु अपने विचार में दृढ़ थे। उन्होंने कहा – मैंने अपने कर्तव्य-कर्म का पालन किया और राज्य तो तुम्हें एक-न-एक दिन चलाना ही है, इसलिये तुम इसे स्वीकार करो और चलाओ। केवल इतना ही नहीं, महाराज मनु सचमुच ही राज्य का त्याग कर देते हैं।

यह बड़ी स्वाभाविक बात है। यदि कोई वस्तु हमारी मुट्ठी में है और उसी मुट्ठी में हम कोई अन्य वस्तु पाना चाहते हैं, तो जब मुट्ठी खाली करेंगे, तभी तो उस वस्तु को लेंगे। जब हम किसी वस्तु को पाना चाहते हैं, तो उस वस्तु को पाने के लिए, जिस वस्तु को हम पकड़े हुए बैठे हैं, यदि हम उसका त्याग नहीं करेंगे, तो उसे हम कहाँ धारण करेंगे?

गोस्वामीजी ने गीतावली रामायण में कहा कि श्रीराम जब जनकपुर में आये, तो उन्हें देखने को जनकपुर-वासिनी स्त्रियाँ उमड़ पड़ीं। श्रीसीताजी की एक सखी श्रीराम का दर्शन करने जा रही है। उनकी दशा बड़ी अनोखी है, आँखों से आँसू बह रहे हैं। आँसू बहते देखकर दूसरी सखी ने पूछा – आँसू क्यों बहा रही हो? बोली – दर्शन के लिये जा रही हूँ। – तो क्या दर्शन करने के लिये जाते समय आँसू बहाना जरूरी है?

इस पर उसने अपनी काव्यमयी भाषा में बड़ी मीठी बात कही। उसने कहा – "अच्छा यह बताओ कि यदि सूचना मिले कि अमृत बट रहा है और अपने पास जो बर्तन हो और उसमें कोई व्यर्थ की वस्तु भरी हो – साधारण जल हो, खारा जल हो, तो तुम क्या करोगी? यही तो करोगी न कि उस जल को फेंक दोगी और उस बर्तन में अमृत ले लोगी।" सखी ने व्याख्या करते हुए कहा – अयोध्या से श्रीराम के सौन्दर्य का अमृत आया हुआ है। उस अमृत को रखने की जो कलशी है, वह तो नेत्र ही है। सौन्दर्य को आँखों में ही तो रखा जायगा! और उस आँख की कलशी में यह खारा जल भरा हुआ है। तो यदि उसे बहा नहीं दोगी, तो उस अमृत को रखोगी कहाँ? तुम भी अपने नेत्र खाली कर लो –

साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ
नयन-कमल कल कलस रितौ, री ।। गीता., ७७/२

भगवान राम क्या रावण के सामने नहीं गये? कुम्भकर्ण के सामने नहीं गये? परन्तु क्या वे अपने नेत्रों में भगवान के सौन्दर्य को रख पाये? इतना ही क्यों! धनुषयज्ञ के मण्डप में भी सारे संसार के जो राजा एकत्र थे, उनमें जिन राजाओं की श्रीराम के प्रति कोई आस्था नहीं थी, उनके मन में श्रीराम के प्रति स्नेह नहीं बल्कि विद्वेष-भाव ही आया। और उनका वही भाव प्रगट भी हुआ, क्योंकि जो बुरे राजा थे, वे धनुष को तोड़ने का प्रयत्न करके थक गये। परन्तु जो राजा समझ गये थे कि श्रीसीता कौन हैं और श्रीराम कौन हैं, वे तो अपने आप में आनन्दित हो रहे थे। बुरे राजाओं को लगा कि ये तो

बैठे ही हुए हैं, ये उठे नहीं, इनको तो बड़ा अच्छा है – ये लोग कहेंगे कि हममें शक्ति थी, परन्तु हम उठे ही नहीं। अत: जब हम लोगों की नाक कटी है, तो इन लोगों की भी कटनी ही चाहिए। तो वे बुरे राजा इनको उकसाने लगे – तुम लोग तब से बैठे ही हुए हो, तो फिर आये ही क्यों? क्या केवल बैठने के लिए आए हो? तुम जो कार्य करने के लिए आए हो, कम-से-कम उसके लिये प्रयत्न तो करो।

वे लोग बोले – हम जो पाने के लिए आए थे, वह तो हमने पा लिया। – क्या पा लिया? बोले – हम आये थे सीताजी को पाने के लिये, परन्तु यहाँ आकर हमने जगज्जननी सीताजी और जगत्पिता श्रीराम को भी पा लिया। एक को पाने आये थे, दो को पा लिया। अब हम किस बात के लिए प्रयत्न करें। तुम लोग भी पहचानो – ये जगन्माता हैं और वे जगत्पिता हैं, अब भी कुछ पाना बाकी है क्या? –

जगत पिता रघुपतिहि बिचारी ।
भरि लोचन छबि लेहु निहारी ।। १/२४६/२

बुरे राजा बिगड़कर बोले – केवल तुम्हारे ही पास आँख है, हमारे पास नहीं है क्या? तब उन राजाओं ने बड़ी अच्छी बात कही – आँखें तो हैं, परन्तु उसमें तुमने जो कुछ भर रखा है, पहले उसको तो निकालो – तुम्हारे नेत्रों में ईर्ष्या भरी हुई है, मद भरा हुआ है, क्रोध भरा हुआ है। इनके भरे रहते तुम उन्हें कहाँ देख पाओगे? इन्हें त्यागकर उन्हें श्रीराम के सौन्दर्य से भर लो –

देखहु रामहि नयन भरि
तजि इरिषा मदु कोहु ।। १/२६६

यदि हमारी आँखों में राग, द्वेष, ईर्ष्या भरी है, सांसारिक वासना भरी है, तो भगवान सामने भी हों, तो हम न तो उन्हें पहचान सकेंगे और न धारण ही कर सकेंगे। आँसू बहाकर हम प्रभु के समक्ष अपनी दुर्बलता, असमर्थता और रिक्तता प्रकट करते हैं। खाली हो गये, तो अब हमारे पास कुछ नहीं है। जो सखी आँसू बहाती हुई जा रही है, वही तो अपनी आँखों को खाली करके उसमें श्रीराम के सौन्दर्य को भरती है। इसका एक और भी अधिक मधुर पक्ष गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है। पुष्पवाटिका में जो सखी श्रीराम को देखकर लौटी, उसकी क्या दशा थी? – आँसू बहा रही है –

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन ।। १/२२८

दर्शन के पहले आँसू बहाना, तो तुमने कह दिया कि कलशी खाली करना है। अब दर्शन के बाद यह आँसू बहाने की क्या आवश्यकता है? सखी बोली – यदि कलशी खाली करने के बाद, उसमें अमृत भरा जाय, परन्तु यदि अमृत अधिक हो और बर्तन छोटा हो, तो वह छलकेगा या नहीं? तो ये जो आँसू हैं, वस्तुत: सौन्दर्य के अमृत की अनन्तता की ओर संकेत करते हैं। इतना असीम सौन्दर्य है कि वह तो आँसू के रूप में छलक रहा है। तुम्हें भी निमंत्रण है। तुम भी चलो, सौन्दर्य को अपनी आँखों में धारण करो।

वस्तुत: त्याग तो जीवन की एक बाध्यता है। कभी कोई ऐसा व्यक्ति हो ही नहीं सकता, जिसको कभी त्याग न करना पड़े। जीवन में व्यवहार में भी और शरीर के सन्दर्भ में भी त्याग अनिवार्य है। वह त्याग जितना विचारपूर्वक हो जाय, बलात् हो जाय, विवेकपूर्वक हो जाय, उतना ही उत्तम है। मनु के जीवन में विचार-वृत्ति का उदय हुआ। उनको लगा – जीवन को सार्थक करना तभी सम्भव है, जब भगवान की प्राप्ति हो जाय। उन्होंने सोचा – इसके लिये एक तो विराग का मार्ग है, जो मेरे पास है नहीं। मेरा अन्त:करण स्वभाव से विरागी नहीं है। विराग नहीं है, तो भी उन्होंने कितना महान् कार्य किया! हमारे सन्त-महापुरुष स्वयं अपने समाज का सुख छोड़कर, यह जो महानतम कार्य कर रहे हैं, इससे वे स्वयं मुक्त हो जायँ – उसके मूल में यह भाव होना तो बड़ा स्वाभाविक है, परन्तु समाज के कष्ट और पीड़ा को दूर करके सबको उस आनन्द और मुक्ति का भागी बना देना, जैसे ये हमारे इस आश्रम के महापुरुष कर रहे हैं, इनका उद्देश्य यही है, इनके वाक्य भी वही हैं। तो मनु मानव-जाति के आदि पुरुष हैं। और उन्होंने जो कार्य किया, केवल अपने ही कल्याण के लिये नहीं किया। अपने कल्याण के लिये तो वे वहीं योगाभ्यास कर लेते। ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाते। परन्तु उन्हें ऐसा लगा कि पहले तो मैं मुक्ति का अधिकारी इसलिए नहीं हूँ, क्योंकि मेरे जीवन में विराग नहीं है। मुक्ति के लिए आवश्यक है कि संसार की सारी वस्तुओं से वैराग्य हो जाय। क्योंकि वैरागी उसे कहा गया है, जिसे संसार की वस्तुओं से ही नहीं, अपितु इन्द्र के पद तथा ब्रह्मलोक के सुख से भी विराग हो गया हो और ऐसा व्यक्ति ही महानतम मुक्ति के सुख का अधिकारी है – **ब्रह्मलोकादि वैभव विरागी ।**

यह श्रीभरतजी के लिए, श्रीहनुमानजी के लिए यह वाक्य कहा गया। इससे समझा जा सकता है कि विराग कितना कठिन है, कितना दुर्लभ है।

उत्तरकाण्ड में इस विराग की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। पढ़कर व्यक्ति आतंकित हो जाता है – पहले गाय लाओ, फिर चारा खिलाओ, फिर बर्तन लाओ, दूध दूहो, उसे गरम करो, फिर ठण्डा करो, उसमें जामन डालो, दही जम जाय, तो मथानी लेकर मथो और तब मक्खन निकलेगा। यह तो मक्खन निकालने का क्रम है। कहा गया कि वैराग्य ही मक्खन है। उसे निकालने के लिए गाय चाहिए, चारा चाहिए, दूहने वाला चाहिए। कितना कठिन है! सबसे पहले तो प्रभु की कृपा से सात्त्विक श्रद्धा की गाय मिले –

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जौं हरिकृपाँ हदयँ बस आई ।। ७/११७/९

उसे सत्कर्म का, साधना का चारा खिलाइए। भाव का बछड़ा लाइए। उससे गाय पेन्हा जाय। फिर निवृत्ति की रस्सी से गाय का पैर बाँधना है, अर्थात् प्रवृत्ति से हटकर निवृत्ति की दिशा में चलें।

तेइ तृन हरित चरै जब गाई ।।
भाव बच्छ सिसु पाई पेन्हाई ।। ७/११७/११

विश्वास का बर्तन हो और निर्मल मन का अहीर उस श्रद्धा की गाय को दूहे। और तब कहीं अहिंसा का दूध मिलेगा।

नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा ।
निर्मल मन अहीर निज दासा ।। ७/११७/१२

और उस अहिंसा के दूध को पकाइए। अहिंसा जब आती है, तब उसके भी अनेक चमत्कार होते हैं, उससे भी विरत हो जाइए। और निष्कामता की अग्नि पर उसे पकाइए।

परम धर्ममय पय दुहि भाई ।
अवटै अनल अकाम बनाई ।। ७/११७/१३

और पकाने के बाद दूध गाढ़ा हो गया। पर गरम भी तो हो गया। उसको ठंडा कीजिए अर्थात् इस निष्कामता से गरम न हो जाइए। यदि ऐसा हो जाय, तो क्या करें?

तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै ।
धृति सम जावनु देइ जमावै ।। ७/११७/१४

और जावन? मथानी? मथने वाला? मुदिता वृत्ति का उदय हो। विचार की मथानी से उस दधि का मन्थन किया जाय। रस्सी हो इन्द्रिय दमन की, सत्य की। मुदिता वृत्ति विचार की मथानी से मथे।

मुदिताँ मथै बिचार मथानी ।
दम अधार रजु सत्य सुबानी ।। ७/११७/१५
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता ।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ।। ७/११७/१६

कितनी कठिन साधना है ! इनमें से हर वस्तु मनुष्य के जीवन में अत्यन्त कठिन है। इतना करने के बाद तब कहीं विमल वैराग्य का नवनीत प्राप्त होता है। उसके बाद भी व्यक्ति अगला वाक्य पढ़े, तो फिर आतंकित हो जायगा। दीपक मक्खन से तो जलता नहीं है। जलाकर देखिये कि क्या स्थिति होती है? दीपक जलाना हो, तो पहले मक्खन को घी बनाना पड़ता है। उसके लिये क्या करते हैं? उसे घी बनाने के लिए अग्नि जलाइए। अग्नि कौन सी है? और अग्नि को जलाने के लिए लकड़ी भी चाहिए। लकड़ी कौन-सी है? योग की अग्नि को प्रज्वलित कीजिए और उसमें शुभ और अशुभ कर्मों की लकड़ी लगा दीजिए। दोनों को जला दीजिए। और तब मक्खन घी में बदलेगा।

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ ।।
७/११७-क

विराग भी चरम फल नहीं है। विराग का फल है ज्ञान। तो विराग-रूपी मक्खन से दीपक नहीं जलेगा। उसका घी बनाना है। नवनीत या मक्खन बड़ी अच्छी चीज है, लेकिन उसे आग पर चढ़ाकर पकाइए। मक्खन के घी बनने की कसौटी क्या है? आप जब भी मक्खन को कड़ाही में गरम करेंगे, तो चड़-चड़ की आवाज आवेगी। वह चड़चड़ाहट की आवाज जब शान्त हो जाय, तब समझिये कि मक्खन घी बन गया। इसका अभिप्राय है कि वैराग्य के उदित होने पर भी यदि मैं का चिड़चिड़ापन बना हुआ है – 'मैं विरक्त हूँ', 'मैं विरागी हूँ,' तो वह अभी मक्खन ही है, घी नहीं बना है।

तब बिग्यान रूपिनि बुद्धि विसद घृत पाइ ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ ।।
७/११७-ख

घी बन जाने पर ज्ञान का दीपक जलाना – बड़ा कठिन है यह सब ! अत: कह दिया – यह कहने में कठिन, समझने में कठिन और साधने में भी कठिन है। यदि संयोगवश यह विराग हो भी जाए, तो उसे बनाए रखने में अनेकों विघ्न हैं।

कहत कठिन समुझत कठिन
साधत कठिन बिबेक ।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं
पुनि प्रत्यूह अनेक ।। ७/११८-ख

तो वैराग्य की साधना इतनी कठिन है। अपना नाम भले ही विरागीजी रख लीजिये। अपने को विरागी मान लीजिए, पर विरागी की साधना इतनी जटिल है कि इसकी कोई सीमा नहीं है। ऐसा वैराग्य जब ज्ञान की दिशा में उन्मुख हो, तब कहीं मुक्ति मिलती है। मनु ने हम लोगों पर बड़ी कृपा की। यदि वे उस मार्ग से चलते, तो साधना के द्वारा उसे कर भी लेते, पर उन्होंने निर्णय लिया कि हम विराग के मार्ग से नहीं, अनुराग के मार्ग से चलेंगे। विराग का मार्ग ज्ञान की ओर ले जाता है और अनुराग का मार्ग भक्ति की ओर।

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी
बिगत मोह मुनिबृन्दा ।। १/१८५/छं.२

वैराग्य का भी लक्ष्य अन्तत: भगवान में अनुराग ही है। महाराज मनु साधना करते हैं, तपस्या करते हैं। पर कठोर साधना के बाद भी उन्हें भगवान मिल नहीं गये। वह एक बड़ा विस्तृत प्रसंग है। उसकी अन्तिम परिणति इस रूप में हुई कि जब उन्होंने भगवान से अवतार लेने की प्रार्थना की, तो उनका उद्देश्य था कि मैं भले ही मुक्त हो जाऊँ, पर इस संसार में मानव-जाति के रूप में हमारे पुत्र कैसे धन्य हों, उन्हें कैसे कृतकृत्यता प्राप्त हो। उन्होंने स्वयं भगवान के धाम में न जा कर भगवान को ही अपने धाम में बुला लिया। उसके फलस्वरूप संसार के जीव धन्य हो गए। ❑✔

❖ (क्रमश:) ❖

सुबोध चन्द्र घोष

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

कलकत्ता में ८ नवम्बर १८६७ को जन्मे, सुबोध चन्द्र घोष का लालन-पालन धार्मिक वातावण में हुआ था। वह श्रीयुत् शंकर घोष के उस परिवार का था, जिसके संरक्षण में कलकत्ता के ठनठनिया की सिद्धेश्वरी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर था। उसके माता-पिता – नयनतारा और कृष्णदास का उसके धार्मिक जीवन के विकास में काफी योगदान था। वह नियमित रूप से देवी-देवताओं का ध्यान किया करता।

प्राय: जैसा होता है, उसके माता-पिता ने भी उस पर विवाह के लिए जोर डाला, पर उसने दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया। अन्त में उसके माता-पिता ने निश्चय किया कि ज्योंही वह अपनी स्कूल की अन्तिम परीक्षा पास कर लेगा, त्योंही उसका विवाह कर देंगे। सरल-चित्त के सुबोध ने ईश्वर से आन्तरिक प्रार्थना की, ताकि वह परीक्षा में उत्तीर्ण ही न हो। लगता है ईश्वर ने उसकी प्रार्थना सुन ली, क्योंकि परीक्षा में वह उत्तीर्ण नहीं हुआ। तथापि इसी मोड़ पर उसके जीवन ने एक निश्चित दिशा पकड़ ली।

सत्रह वर्ष की आयु में सुबोध ने पहली बार 'श्रीमत् रामकृष्ण परमहंसेर उक्ति' (श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेश) नामक बँगला पुस्तक पढ़ी, जिसे सुरेश चन्द्र ने संकलित किया था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के विषय में उसने अपने पिता से सुना था, पर इस पुस्तक को पढ़ने के बाद तो वह यथाशीघ्र उनके दर्शन के लिए आकुल हो उठा। उसके पिता ने उसे किसी अवकाश के दिन सुविधा देखकर साथ ले जाने का आश्वासन दिया, परन्तु सुबोध इतने दिन रुक नहीं सका। उसने अपने पड़ोसी सहपाठी क्षीरोदचन्द्र मित्र को साथ चलने के लिए तैयार कर लिया। तदनुसार सुबोध तथा क्षीरोद एक दिन खूब तड़के[१] दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़े। चूँकि दोनों रास्ते से अपरिचित थे, अत: सीधे उत्तर दिशा में चलते रहे। अड़ियादह पहुँचने पर उन्हें पता लगा कि दक्षिणेश्वर पीछे छूट गया है। वे वापस लौटे। सुबोध कुछ चिन्तित हुआ। अपने माता-पिता के नाराज होने के भय से वह बोला, "क्षीरोद, चलो, घर लौट चलें। अब तो दोपहर हो गयी है। शाम के पहले हमें घर लौट जाना है।" परन्तु क्षीरोद ने दक्षिणेश्वर चलने पर जोर दिया। वे खेतों की मेड़ पर से होकर चलने लगे, ताकि रास्ता जल्दी तय हो जाय। सुबोध सन्त से मिलने के विचार से संकुचित हो रहा था। उसने क्षीरोद से अनुरोध किया कि सन्त से वही बातचीत करे और वह स्वयं चुप रहेगा। क्षीरोद राजी हो गया।

अन्त में वे दक्षिणेश्वर पहुँचे। सम्भवत: वह अपराह्न का समय था। श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में थे। वे मध्याह्न भोजन के बाद कुछ विश्राम के पश्चात् छोटे तखत पर बैठे थे। पता नहीं सुबोध और उसके मित्र ने दोपहर का भोजन किया था या नहीं। यदि न किया रहा हो, तो हम यह निश्चित रूप से मान सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें भोजन कराया होगा। क्षीरोद ने पहले कमरे में प्रवेश किया था। उसने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया, जबकि सुबोध दूर एक कोने में खड़ा रहा।[२] श्रीरामकृष्ण ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया और पूछा, "तुम लोग कहाँ से आ रहे हो?"

"कलकत्ते से" – क्षीरोद ने उत्तर दिया।

"ये दूसरे बाबू क्यों इतनी दूर खड़े हैं?" श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए पूछा, "बाबू, तुम क्यों उतनी दूर खड़े हो? आओ, पास आ जाओ।"

सुबोध कुछ कदम आगे बढ़ा। श्रीरामकृष्ण ने उसका चेहरा देखकर कहा, "क्या तुम शंकर घोष के घर के हो?"

इस पर विस्मित हो सुबोध ने कहा, "हाँ, परन्तु महाशय, आपको कैसे मालूम हुआ?"[३]

श्रीरामकृष्ण – "जब मैं झामापुकुर में रहता था, तब कई बार सिद्धेश्वरी के मन्दिर में और तुम्हारे घर गया था। तब तो

तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था। मैं जानता था कि तुम यहाँ आओगे। जिन लोगों के जीवन में आध्यात्मिकता की उज्ज्वल सम्भावनाएँ होती हैं, माँ उन लोगों को यहाँ भेज देती है। तुम इतनी दूर क्यों खड़े हो? आओ, मेरे पास आओ।''

सुबोध और पास आया। श्रीरामकृष्ण ने उसे अपनी शय्या पर बैठने को कहा। सुबोध ने मना किया कि रास्ते में कई लोगों का उसने उन वस्त्रों में स्पर्श किया है और फिर वे वस्त्र स्वच्छ भी नहीं है, अत: उसे सन्त के बिस्तर पर नहीं बैठना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने उसकी कमर में हाथ डालकर स्नेह-भरे स्वर में कहा, ''देखो, तुम यहाँ के अपने जन हो। भला किसी के कपड़ों में क्या रखा है?''[४] श्रीरामकृष्ण सुबोध की कलाई थामे कुछ देर आँखें बन्द किये बैठे रहे। उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। थोड़ी देर बाद बाह्य चेतना लौटने पर वे अपने आप में हँसने लगे। इसके बाद में उन्होंने कहा, ''देख, जगदम्बा ने कहा है कि तू सफल होगा।''[५]

अब तक सुबोध ने पूछने के लिए पर्याप्त साहस जुटा लिया था, ''यदि सच ही मैं यहाँ का हूँ, तो माँ इससे पहले ही मुझे यहाँ क्यों नहीं ले आयी?''

श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा, ''देख, बिना समय आये कुछ भी नहीं होता।''

श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आनेवाले अन्य लोगों के समान ही सुबोध के मन में भी उनके विषय में वैसी धारणा हुई कि सन्त की अद्‌भुत सरलता तथा आध्यात्मिकता अत्यन्त मोहक है। सुबोध के अनजाने ही श्रीरामकृष्ण उसके अन्तर में प्रविष्ट हो एक गहरी दृढ़ आस्था का संचार कर रहे थे।

कुछ समय बाद सुबोध थोड़ी दूर हटकर श्रीरामकृष्ण के सामने फर्श पर बैठ गया। श्रीरामकृष्ण के कहने पर उनके भतीजे रामलाल ने सुबोध के बैठने हेतु एक आसन दे दिया। सुबोध उस पर आराम से बैठ गया, जबकि उसका मित्र क्षीरोद पास में चटाई पर बैठा था।

श्रीरामकृष्ण ने पूछा, ''इतनी दूर तुम लोग किस प्रकार आये?''

– ''क्यों? पैदल ही,'' सुबोध ने तत्काल उत्तर दिया।

– ''क्या मतलब? तुम लोग इतनी दूर पैदल ही आये? परन्तु तुम्हें इस स्थान के बारे में पता कैसे चला?''

सुबोध – ''मैंने आपके उपदेश पढ़े थे। मैं मुग्ध हो गया था। आप प्रसिद्ध सन्त हैं। इसलिए हम लोग आपके दर्शन के लिए आये हैं।''

इन शब्दों को सुनते ही श्रीरामकृष्ण के मनोभाव में परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। वे भावमग्न हो गये और बोले, ''मैं तो दीन हूँ, तुच्छ कीट से भी दीन, मेरा क्या नाम और प्रसिद्धि? मैं तो अत्यन्त तुच्छ हूँ।'' सन्त की विनम्रता और उनके इन शब्दों ने सुबोध के मन पर गहरा प्रभाव डाला। कुछ समय चुप रहने के बाद श्रीरामकृष्ण ने फिर कहा, ''माँ जिन्हें यहाँ भेजती है, वे लोग जरूर आध्यात्मिकता प्राप्त करेंगे। तुम यहाँ शनिवार और मंगलवार को आया करो। इन दिनों आने से अच्छा रहेगा। उस दिन तुम्हारे अंचल के अनेक लोग आते हैं, तुम भी आना।''[६]

सुबोध को लगा कि आमंत्रण स्वीकार कर लिया जाय, परन्तु माता-पिता की नाराजगी का भय था। उसने कहा, ''यदि मैं शनि और मंगल को आऊँगा, तो मेरे माता-पिता जान जायेंगे। आप जो कुछ बताना चाहते हों, अभी बता दीजिए। शनिवार को आना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस दिन मेरे पिता दफ्तर से जल्दी लौट आते हैं।''

श्रीरामकृष्ण ने जोर दिया, ''नहीं, चूँकि ये शब्द मेरे मुँह से निकल चुके हैं, इसलिए अब मैं इन्हें वापस नहीं ले सकता। जब मैं कहता हूँ कि अमुक जगह मुझे जाना है, तब बरसात हो या आँधी, मुझे जाना ही पड़ता है। यदि मैं न भी जाना चाहूँ, तो माँ मुझे वहाँ ले जाती है। बचने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए शनि और मंगल को यहाँ आना।''[७]

श्रीरामकृष्ण का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। प्राय: चार महीने से वे गले के दर्द से पीड़ित थे, वह कैंसर का पूर्व-लक्षण था। उन्होंने दोनों युवकों को महेन्द्र नाथ गुप्त से मिलने के लिए कहा, क्योंकि वे उन्हीं लोगों के मुहल्ले में रहते थे।[८]

चूँकि अब दिन ढल रहा था, इसलिए दोनों ने श्रीरामकृष्ण से विदा माँगी। उन्होंने उन लोगों को कुछ भोजन कर लेने को कहा, परन्तु सुबोध ने पहले तो मना कर दिया। इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, ''जाने के पहले थोड़ी मिठाई खाकर पानी पी लो।'' उनके कहने पर लाटू ने उन्हें थोड़ा-सा प्रसाद दिया। प्रसाद खाकर वे लोग कलकत्ते लौटने के लिए तत्पर हुए, तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''तुम्हारा घर यहाँ से बहुत दूर है और तुम लोग छोटे भी हो। तुम्हारे लिये नाव या बग्घी से जाना ही अच्छा होगा। मैं तुम लोगों को भाड़ा दे देता हूँ।''

सुबोध ने उत्तर दिया – ''मैं तैरना नहीं जानता। हम लोग नाव से नहीं जा सकते।''

श्रीरामकृष्ण ने जोर दिया – ''तो फिर किराये पर बग्घी ले लो।''

सुबोध ने कहा – ''नहीं, हम लोग पैदल चले जायेंगे।''

श्रीरामकृष्ण स्नेह-भरे शब्दों में बोले, ''देखो, तुम लोग अभी लड़के हो, बहुत कष्ट होगा। इतनी दूर पैदल चलना बड़ा कठिन है।''

सुबोध अपनी बात पर अडिग था। उसने बार-बार कहा कि चूँकि वे लोग उत्साह से भरे हुए हैं, अत: उन लोगों का पैदल वापस जाना कठिन नहीं होगा। चूँकि वह स्पष्टवादी भी

था, इसलिए उसने तर्क दिया, "पैसे आप कहाँ से लाएँगे?"

श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा, "तुम पैसे की चिन्ता मत करो। ऐसे कई लोग हैं, जो मुझे पैसे देते हैं। मैं रामलाल से तुम्हें कुछ देने के लिए कहता हूँ, किराये से गाड़ी कर लेना।" इस पर भी सुबोध के राजी न होने पर श्रीरामकृष्ण ने क्षीरोद को पैसे लेने के लिए कहा। सुबोध के अनुरोध पर क्षीरोद ने भी लेना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने परमहंस को प्रणाम किया, तब उन्होंने अपनी मधुर वाणी में याद दिलाते हुए कहा, "मंगल और शनि को यहाँ आना।"[९]

यद्यपि उपलब्ध तथ्यों में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, तथापि ऐसा माना जा सकता है कि कलकत्ते लौटने से पहले उन दोनों ने शीघ्रतापूर्वक मन्दिरों में दर्शन भी किये होंगे।

अपनी आशंकाओं के बावजूद सुबोध अगले शनिवार को अपने मित्र के साथ स्कूल से दक्षिणेश्वर भाग आया। सुबोध का दक्षिणेश्वर आना-जाना बढ़ता गया और वह अनजाने ही क्रमशः आध्यात्मिकता के नये राज्य में प्रविष्ट होने लगा। वह समझ नहीं सका कि यह क्या हो रहा है। गहरी जड़ें जमाये बैठे उसके बहुत-से पुराने संस्कार धीरे-धीरे मिटने लगे। उसके लिए वह एक नये जीवन का शुभारम्भ था। सुबोध ने अपने को श्रीरामकृष्ण की स्नेहपूर्ण देखरेख में समर्पित कर दिया। उन्होंने भी स्नेहमयी माता के समान अपने सुबोध के भीतर आध्यात्मिकता को अंकुरित होते देखा, जिसे स्वामी विवेकानन्द और अन्य लोग स्नेह से 'खोका' कहा करते थे।

बाद में उन्होंने संसार का त्याग कर दिया और श्रीरामकृष्ण संघ में प्रविष्ट हो स्वामी सुबोधानन्द के नाम से परिचित हुए। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में निवास करना ईश्वर के सान्निध्य में निवास के ही तुल्य था। स्वामी सुबोधानन्द ने, न केवल उनके साथ निवास किया, अपितु निष्ठापूर्वक उनके आदेशों का पालन किया और जी-जान से उनकी सेवा की। परन्तु स्वामी सुबोधानन्द इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुए। परवर्ती काल में उन्होंने कठोर साधनाएँ भी कीं, ताकि श्रीरामकृष्ण के आशीर्वादों का प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर सकें। तथापि उस दिव्य देवालय की यात्रा करनेवाले अपने कुछ अन्य सहयात्रियों के समान उन्होंने अकेले ही उस फल का भोग नहीं किया, अपितु १९३२ ई. के दिसम्बर में देहावसान के पूर्व तक अन्य अनेक लोगों के साथ मिलकर अपनी दिव्य अनुभूतियों रूपी उस फल का रसास्वादन करते रहे। ❑❑❑✔

---

१. 'श्रीश्री स्वामी सुबोधानन्देर जीवनी ओ पत्रावली' (बँगला ग्रन्थ) के अनुसार वह १८८४ ईस्वी की रथयात्रा का शुभ दिन था। वैसे 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (भाग २, सं. १९९९, पृ. १००६) ग्रन्थ के अनुसार यह यात्रा ३१ अगस्त १८८५ के कुछ दिन पहले हुई थी। उस वर्ष रथयात्रा का पर्व मंगलवार, १४ जुलाई को पड़ा था तथा श्रीरामकृष्ण ने वह दिन कलकत्ते में बलराम बोस के घर बिताया था। सुबोध उस दिन वहाँ नहीं थे। क्योंकि, जैसा कि हम देखेंगे, उसकी पहली ही यात्रा में श्रीरामकृष्ण ने उसे मंगल या शनि को आने के लिए कहा था। इससे अनुमान होता है कि पहली यात्रा इन दोनों में से किसी भी दिन नहीं हुई थी। अतः इतना लगभग निश्चित है कि पहली मुलाकात रथयात्रा के दिन नहीं हुई थी और निश्चित ही १८८४ में भी नहीं, क्योंकि 'श्रीमत् रामकृष्ण परमहंसेर उक्ति' (भाग १) नामक पुस्तक सर्वप्रथम २३ दिसम्बर १८८४ को छपी थी। और जब सुबोध ने श्रीरामकृष्ण से पहली बार भेंट की थी, उस दिन 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त, 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक) वहाँ उपस्थित नहीं थे। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ में सुबोध का नाम सर्वप्रथम ३१ अगस्त १८८५ को आया है, "दो लड़के आये हुए थे। एक तो शंकर घोष के नाती का लड़का सुबोध और दूसरा उसी के टोले का लड़का क्षीरोद।" 'म' की इसके पहले की दक्षिणेश्वर-यात्रा गुरुवार एवं शुक्रवार २७ तथा २८ अगस्त १८८५ को हुई थी। इन तथ्यों के आधार पर हम मान सकते हैं कि सुबोध की यात्रा ३० अगस्त, १८८५ को हुई होगी।

इन धारणाओं के विपरीत, 'श्रीश्री-रामकृष्ण-चरित' (कालीनाथ सिन्हा, १३, निकासी पारा लेन द्वारा प्रकाशित बँगला ग्रन्थ, प्रथम सं., पृ. ३३२) में गुरुदास बर्मन कहते हैं कि किसी सप्ताह के बीच के दिन, स्कूल की जल्दी छुट्टी हो जाने पर, सुबोध एवं क्षीरोद दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़े थे। सम्भव है यह विवरण किसी अन्य दिन की यात्रा से सम्बन्धित हो, पहली यात्रा से नहीं।

२. गुरुदास बर्मन के अनुसार उन लोगों ने तत्कालीन प्रथा के अनुसार हाथ जोड़कर नमस्कार किया था। **३.** बर्मन, वही, पृ. ३३३।

४. स्वामी सुबोधानन्द ने अपने दिनांक २३.६.२५ के एक पत्र में अपनी इस यात्रा का अनुभव लिखा था। उसमें उन्होंने बताया था, "ठाकुर ने कहा, 'तुम यहीं के हो,' अर्थात मैं केवल उन्हीं का हूँ...। यद्यपि मैं ठाकुर को देखने एक दूसरे मित्र के साथ गया था, पर अब मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि अन्य लोग तो मात्र सहायक हैं। ठाकुर अपने लोगों को, अपनी वस्तुओं को स्वयं ही खींच लेते हैं।"

५. सुबोध की दूसरी यात्रा में श्रीरामकृष्ण ने उसकी जीभ पर कुछ लिख दिया था और उसकी नाभि से गले तक थपथपाते हुए कहा था, 'जागो माँ, जागो!' उन्होंने सुबोध से ध्यान करने के लिए कहा और सुबोध की सुप्त आध्यात्मिकता एकदम जाग उठी। उसका हृदय आनन्द से भर उठा। शरीर पुलकित हो उठा। उसने अपनी सुषुम्ना नाड़ी में मस्तिष्क तक उठती हुई एक शक्ति का अनुभव किया। ('The Disciples of Sri Ramakrishna' अद्वैत आश्रम, मायावती, संस्करण १९४३, पृ. २७८) **६.** बर्मन, वही, पृ. ३३५।

७. वही, पूर्वोद्धृत। **८.** 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (भाग २, सं. १९९९, पृ. १००६) : श्रीरामकृष्ण 'म' से, "उनसे मैंने कहा, 'मेरी तबीयत इस समय अच्छी नहीं।' फिर मैंने तुम्हारे पास जाकर उपदेश लेने के लिए कहा, उन्हें जरा देखना।" मास्टर – "जी हाँ, मेरे ही मुहल्ले में वे रहते हैं।" **९.** बर्मन, वही, पृ. ३३६।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१९३. परहित सरिस करम नहिं भाई

सात वर्ष की एक छोटी-सी बालिका फल बेचने बाजार जा रही थी कि एक सँकरी गली में सामने से जल्दी-जल्दी आ रहे दो बच्चों से उसे धक्का लगा और सिर पर रखी टोकरी के सारे फल नाली में जा गिरे। यह देख बालिका रोने लगी और बोली, ''मेरे पिता का देहान्त हो गया है। माँ बूढ़ी होने के बावजूद फल-सब्जी बेचकर किसी तरह गुजारा करती हैं। आज उसे बुखार होने के कारण मुझे फल बेचने जाना पड़ा। पर हमारा दुर्भाग्य है कि वे भी गिरकर बिकने लायक न रहे। अब मैं माँ के लिये दवा कैसे ला पाऊँगी?''

उन बच्चों में एक लड़की बड़ी थी, वह बोली, ''हमारे पिता का भी निधन हो चुका है और हम भी गरीब ही हैं, पर मेरी माँ दयालु है। वह तुम्हारी माँ की दवा का इंतजाम कर देगी।'' घर में जाने पर बच्चों ने माँ को सारा हाल सुनाया। लड़के ने कहा, ''माँ, मैंने जो पैसे जमा कर रखे हैं, उनसे मैं दवा ले आता हूँ।'' ''नहीं माँ'', बहन ने कहा, ''इसे धक्का मुझसे लगा था, इसलिये दवा लाने का फर्ज मेरा बनता है। मैं दवा अपने जमा पैसों से लाऊँगी।'' माँ ने कहा, ''बच्चो, दवा दोनों के पैसों से ही आएगी। पर जब तक इसकी माँ स्वस्थ नहीं होती, तब तक तुम्हें उसकी सेवा करनी होगी।'' दोनों भाई-बहन बारी-बारी से बालिका की माँ की सेवा करने लगे। लड़का मजदूरी करके पैसे लाता, उन पैसों से खरीद कर चीजें लाई जातीं और लड़की खाना पकाती।

कोर्सिका के गरीब परिवार में जन्मे इन बच्चों में से बहन इलाइजा तथा भाई नेपोलियन था। उनका बचपन गरीबी तथा मुसीबतों में बीता, इसके बावजूद अपने उच्च मनोबल तथा अदम्य आत्मविश्वास के साथ कठोर परिश्रम करते हुए उन्होंने उन्नति की। वही बालक बड़ा होकर नेपोलियन के नाम से फ्रांस का शासक बना और विश्व में सुविख्यात हुआ।

१९४. बलिहारी वा दुःख की

महिला सन्त राबिआ एक बार निराहार रहकर इबादत कर रही थी। आठवें दिन जब उसे भूख लगी, तो घर में जाते ही दरवाजे के पास एक प्याला दिखा। अँधेरा हुआ और वह चिराग जलाने लगी, तो चिराग ही बुझ गया। व्यथित मन से उसने कहा, ''या अल्लाह, तुझे आज क्या हो गया, जो तू इस दुखियारी को दुःख पर दुःख दिये जा रहा है।'' इतने में आवाज आई, ''राबिआ, अगर तू कहेगी, तो दुनिया की सारी धन-दौलत तुझे देकर तेरे सारे दुःख-दर्द दूर कर दूँगा। मगर दुनिया और उसके दुःख-कष्ट कहीं किसी हालत में ठीक से नहीं रह सकते। बता, तू मेरे लिये दुख-कष्ट चाहती है, या दुनिया में खुश रहना चाहती है।'' राबिआ ने उत्तर दिया, ''जिस प्रकार अन्तिम साँसें गिन रहा व्यक्ति अपनी सारी उम्मीदों को नजरअंदाज कर देता है, वैसे ही मैंने अपना सारा ध्यान दुनिया से हटा लिया है, इसलिए तेरे मिलन के सिवा मेरी भला क्या ख्वाहिश रह सकती है!'' उसने आगे कहा, ''यदि मैं नर्क के डर से या किसी लालच में इबादत करती हूँ, तो मेरी ख्वाहिशें पूरी न हो। और अगर इबादत बिना किसी दिखावे के करती हूँ, तो मेरी इबादत को कुबूल करके मुझे अपना दर्शन दे दो।'' उसकी वे-ख्वाहिश इबादत का ही यह परिणाम था कि उसके अन्तिम समय में मुन्कर और नकीर नामक दो फरिश्ते आकर उसे स्वर्ग में ले गये।

१९५. दीनबन्धुता सन्त सुभाऊ

यरीहो नगर में जक्कई नामक एक अमीर आदमी था, जो रोमनों के लिये यहूदियों से जबरदस्ती 'कर'-वसूली करता था। एक दिन जब उसने सुना कि प्रभु ईसा का नगर में आगमन हुआ है, तो उसने उन्हें देखने की सोची। सहसा उसे सामने से लोगों की भीड़ आती दिखाई दी, मगर ठिगना होने से उसे ईसा दिखाई नहीं दिये। वह पास के एक पेड़ पर चढ़ गया। ईसा जब पेड़ के पास से जाने लगे और जब वह उन्हें पेड़ पर दिखाई दिया, तो वे उससे बोले, ''जक्कई, जल्दी नीचे उतरो। आज मैं तुम्हारा मेहमान बनूँगा।'' जक्कई को उनके मुँह से अपना नाम सुनकर आश्चर्य हुआ। यहूदियों को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्हें बुरा लगा।

ईसा उस दिन सचमुच ही जक्कई के घर में ठहरे। वह ईसा की सादगी, मधुर व्यवहार तथा उपदेशों से बड़ा प्रभावित हुआ। ईसा के विदा लेते समय उसने कहा, ''प्रभो, मैं बड़ा पापी हूँ; लोगों से चार गुना कर वसूल करता था। इसे मैं उन्हें वापस कर दूँगा। मेरे पास जरूरत से ज्यादा धन है। मैं उसका आधा हिस्सा गरीबों को बाँट दूँगा। इससे उन्हें जो खुशी होगी, उसे देखकर मुझे बेहद प्रसन्नता होगी।'' ईसा बोले, ''**तुम मनुष्य हो; और मनुष्य का जन्म दूसरे मनुष्यों का दुःख दूर करने के लिये हुआ है।** इससे पहले तुमने जो भी पाप किये हैं, उन गरीबों को उनको धन बाँट देने से वे पाप धुल जायेंगे। आज से तुम्हारा नया जीवन आरम्भ हुआ है। परमात्मा निश्चय ही तुम्हें माफ कर देंगे।'' ❑❑❑

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

रामकृष्ण-भावधारा : एक विहंगम दृष्टि (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(रामचरितमानस के प्रसिद्ध कथाकार श्री मोरारी बापू ने गुजरात के महुआ ग्राम में जनवरी, २००९ में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वधर्म-सम्मेलन' का आयोजन किया था, जिसमें श्री दलाईलामा से लेकर देश-विदेश के अनेकों धर्मावलम्बियों ने भाग लेकर अपने धार्मिक सद्भाव पूर्ण विचार प्रकट किये थे। श्री मोरारी बापू के हार्दिक आग्रह एवं बेलूड़ मठ के निर्देश पर रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि के रूप में, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद इस सम्मेलन में पधारे तथा श्री बापूजी के निवेदन पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुमोदित सर्वधर्म-समन्वय का संदेशक 'रामकृष्ण-भावधारा' पर अपना महत्वपूर्ण सर्वजनहितकारी व्याख्यान दिया। हम उसी जनप्रिय व्याख्यान को 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। इसका सी.डी. से अनुलिखन रायपुर के श्रीदुर्गेश ताम्रकार और कामिनी ताम्रकार ने किया तथा संपादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। - सं)

भगवान श्रीरामकृष्ण देव की इस युग के लिए एक विशेष देन है – नर को नारायण मानकर सेवा करना। यदि सम्भव हो तो, हम दूसरों की सेवा करें, दूसरों की सहायता करें।

सामान्यत: हमारे मन में एक भ्रान्त धारणा है कि हमारे जीवन के दो भाग हैं – एक आध्यात्मिक जीवन है और दूसरा सांसारिक जीवन। किन्तु ऐसा नहीं है। या तो हम पूरे आध्यात्मिक हैं या पूरे संसारी हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि दिन के ३ या ४ घंटे तो हम आध्यात्मिक हैं और शेष २० घंटे संसारी। हम अपने जीवन के २० घण्टे किस प्रकार बिताते हैं, इस पर हमारा जीवन निर्भर करता है। ३ या ४ घंटे की आध्यात्मिकता हमारे जीवन में थोड़ा बहुत परिवर्तन ला सकती है, यह हमारे विकास में थोड़ी सहायता कर सकती है, किन्तु संपूर्ण जीवन जब तक उस एक सूत्र में न बंधा हो, जब तक हमारा संपूर्ण जीवन राममय, कृष्णमय, अल्लाहमय न हो गया हो, तब तक हम पूर्ण आध्यात्मिक नहीं हो सकते। इसलिये या तो मैं पारमार्थिक हूँ या संसारी हूँ।

इस स्थिति को कैसे प्राप्त करें? कैसे प्रत्येक नर को हम नारायण समझें? कैसे हम सेवा करें? इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्णदेव के जीवन की एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना है।

एकबार श्रीरामकृष्ण के पास भक्तगण बैठे थे। उनमें से एक भक्त ने पूछा कि महाराज ! वैष्णव धर्म का सार क्या है? श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – देखो, वैष्णव धर्म का सार है – नाम में रुचि, अर्थात् भगवान के नाम में रुचि होनी चाहिए। वैष्णव की सेवा, अर्थात् जो साधु हैं, भक्त हैं, उनकी सेवा और जीवों पर दया। जीवों पर दया कहते-कहते वे गहन निर्विकल्प समाधि में डूब गये। बहुत देर तक निर्विकल्प समाधि में रहने के पश्चात् जब पुन: देह-भूमि पर आये, अपनी इस चेतना की भूमि पर आये, तो स्वयं कहने लगे – छी ! छी ! तू जीव, कीटाणु, तू कौन होता है जीवों पर दया करनेवाला, उनकी रक्षा करने वाला। जीवों पर दया नहीं, अपितु शिव-ज्ञान से जीव-सेवा। प्रत्येक जीव में वही परमात्मा, वही शिव विराजमान है, तुम धन्य हो कि तुमको किसी एक जीव की सेवा करने का सुअवसर मिला है।

उस दिन स्वामी विवेकानन्द भी अपने गुरु-भाइयों के साथ वहाँ बैठे हुये थे। उन्होंने भी यह बात सुनी। उन्होंने अपने सभी साथियों को कमरे से बाहर बुलाया और कहा – देखो, गुरुदेव ने आज कैसी अद्भुत बात कही ! यदि मैं जीवित रहा और ईश्वर ने मुझे शक्ति दी, तो सारे संसार में इसका प्रचार करूँगा। गुरु-भाइयों ने कहा – क्यों भाई, कौन-सी ऐसी बात उन्होंने कही? स्वामी विवेकानन्द ने कहा – अरे, तुमने सुना नहीं, शिव-ज्ञान से जीव-सेवा। सारे वेदान्त का सार तो यही है कि प्रत्येक जीव शिव है। उसकी सेवा के द्वारा तुम स्वयं मुक्ति प्राप्त कर सकते हो।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के इस सेवा-भाव का पूरी पृथ्वी में प्रचार किया। आप में से बहुत से लोग उनकी उक्ति से परिचत होंगे। स्वामीजी के बहुत से व्याख्यान अंग्रेजी में हैं। उनका एक अँग्रेजी का उद्धरण आपके सामने रखता हूँ। स्वामीजी एक जगह कहते हैं – I do not believe a religion which can not wipe widow's tears and can not stop orphan's wail. – अर्थात् मैं ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करता, जो विधवाओं के आँसू न पोंछ सके, जो अनाथ की चित्कार और पीड़ा को शान्त न कर सके। ऐसा था विवेकानन्द जी का हृदय !

स्वामी विवेकानन्द जी को भी पहली बार निर्विकल्प समाधि काशीपुर के उद्यान में उनके गुरु के जीवनकाल में हो गई थी। उसके बाद वे बार-बार चेष्टा कर रहे हैं, लेकिन निर्विकल्प समाधि नहीं हो रही थी। श्रीरामकृष्णदेव अब थोड़े ही दिनों में अपनी लीला संवरण कर लेंगे। उसी समय एक दिन तत्कालीन नरेन्द्रनाथ भविष्य के विवेकानन्द जी अपने गुरुजी से कहते हैं – गुरुदेव ! मुझे आशीर्वाद दीजिए। मैं चाहता हूँ कि दिन-रात शुकदेव जी के सामान निर्विकल्प समाधि में डूबा रहूँ और केवल देह-रक्षा के लिये ही समाधि से नीचे उतरूँ, देह-रक्षा के लिये कुछ अन्न-ग्रहण करूँ और पुन: समाधि में डूब जाऊँ।

प्राचीन से लेकर आज तक के इतिहास में श्रीरामकृष्ण देव जैसे गुरु का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता, जिसने अपने ऐसे महान् शिष्य को समाधि के लिये भर्त्सना की हो। उन्होंने कहा – छी:, छी:, नरेन्द्र, तेरी ऐसी ओछी बुद्धि! तू अपने सुख के लिए निर्विकल्प समाधि में डूबा रहना चाहता है ! अरे, कहाँ तो मैंने सोचा था कि तू एक विशाल वटवृक्ष के सामान होगा, जिसकी छाया के नीचे हजारों लोग शान्ति प्राप्त करेंगे ! और तू केवल अपना स्वार्थ चाहता है ! अरे, इससे भी ऊँची एक अवस्था है – सर्वभूते ब्रह्मदर्शन – केवल मनुष्य में नहीं, सभी प्राणियों में ब्रह्म का दर्शन करना। जब जड़-चेतन का भेद मिटाकर हमारा मन, उस स्थिति में अवस्थित हो जाये, जहाँ सिवाय चैतन्य के दूसरा कुछ भी न दिखे, जहाँ सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म की सतत् अनुभूति होती रहे, ऐसी यह अवस्था है।

अपने गुरु की महासमाधि के बाद स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक के रूप में सारे देश में घूमते रहे। उसके बाद उन्होंने विश्व का भ्रमण किया और यह अनुभव किया कि संसार में जो कुछ भी है उसी एक परमात्मा की लीला है। मनुष्य में जो विभेद है, वह मानव-निर्मित है, परमात्मा ने किसी भेद का निर्माण नहीं किया है।

'रामकृष्ण मिशन' की भावधारा श्रीरामकृष्ण की देन है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने जो उपदेश दिया, उन्होंने जो सूत्र दिया, स्वामी विवेकानन्द ने उसकी व्याख्या की। स्वामी विवेकानन्द जी एक जगह कहते हैं – Purity is power. – "मनुष्य के जीवन की शक्ति है पवित्रता।" जब तक हमारे जीवन में पवित्रता नहीं आयेगी, तब तक हमारे जीवन में आध्यात्मिकता नहीं आ सकती।

श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहचरी श्रीमाँ सारदा देवी पवित्रता-स्वरूपिणी थीं। श्रीरामकृष्णदेव ने संसार का त्याग नहीं किया। वे सांसारिकता से ऊपर उठकर परमार्थ में प्रतिष्ठित हो गये। संसार को त्यागने में और सांसारिकता से ऊपर उठने में आकाश पाताल का अंतर है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द, उनके सब गुरु-भाइयों का यही संदेश है कि तुम संसार से ऊपर उठो अर्थात् सांसारिकता से ऊपर उठो, जल में कमल के समान रहो। यही रामकृष्ण मिशन का संदेश है। श्रीरामकृष्ण देव ने उदाहरण दिया – नाव जल में चलती है। जहाज समुद्र में चलता है। नाव और जहाज तो जल में ही चलेंगे। जब तक ये जल में रहेंगे, इनके द्वारा तुम समुद्र पार हो जाओगे। लेकिन खतरा तब है, जब नाव या जहाज से नदी या समुद्र पार करते समय इनमें छेद हो जाये और पानी नाव या जहाज में घुसने लगे। तब तुम डूबकर मर जाओगे। ठीक ऐसे ही संसार में रहो, किन्तु सांसारिकता तुम्हारे भीतर प्रविष्ट न हो। जल में कमल के समान रहो।

एक दूसरा उदाहरण उन्होंने दिया। जिस प्रकार एक बड़े घर की नौकरानी बड़े आदमी के घर में काम करती है। मालिक के छोटे बच्चे को 'मेरा लल्ला' 'मेरा मुन्ना' कहती है, उसकी सम्पत्ति को हमारी संपत्ति, हमारी गाड़ी कहती है, पर भीतर से ठीक जानती है कि जिस दिन मालिक ने मेरा हिसाब किया, उस दिन न यह लल्ला मेरा रहेगा, न यह गाड़ी मेरी रहेगी, न यह संपत्ति मेरी रहेगी। यह कोई नहीं जानता कि किस दिन किसकी नौकरी समाप्त हो जायेगी। सबकी मृत्यु अनिवार्य है, किन्तु कब किसकी मृत्यु आ जाये, इसे कोई नहीं जानता है।

श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, मृत्यु का स्मरण रखो और जब तक इस संसार में हो, तब तक भगवान का नाम जपो, भगवान का गुणगान करो, दूसरों की सेवा करो और सत्संग करो।

श्रीरामकृष्णदेव ने आज के युग को यह संदेश दिया कि धर्म के रास्ते के संबंध में झगड़ा मत करो।

स्वामी विवेकानन्द जी ने शिकागो के अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा – We do not only tolerate other religions, but we accept them all. – अर्थात् हम दूसरे धर्म को केवल सहन ही नहीं करते, बल्कि उसे स्वीकार करते हैं कि यह भी ईश्वरप्राप्ति का एक मार्ग है।

अपने जीवन को पवित्र बनाओ और सेवा का व्रत लो, यह महामन्त्र स्वामीजी ने हम-सबको दिया।

स्वामीजी जब परिव्राजक के रूप में भारत-भ्रमण कर रहे थे, तब उनकी भेंट मैसूर के तत्कालीन राजा चामराज वाडिआर से हुयी थी। वे स्वामीजी के उम्र के थे। अंग्रेजों ने उनको भी बहुत कष्ट दिया था। वे स्वामीजी के बहुत अच्छे मित्र हो गये। स्वामीजी विदेश गये। वहाँ वे ४ वर्षों तक रहे। वहाँ माया के साम्राज्य को देखकर उन्होंने मैसूर के राजा को पत्र लिखा – My Dear Prince, life is short. The vanities of the world are transient. They alone live, who live for others. Rest are dead than alive. – अर्थात् मेरे प्रिय राजुकमार ! जीवन क्षणभंगुर है। संसार की सारी चकाचौंध आने-जानेवाली है, अनित्य है। केवल वे ही जीते हैं जो दूसरों के लिए जीते हैं, अन्यथा बाकी लोग तो जीवन्मृत हैं। इस प्रकार स्वामीजी ने 'दूसरों के लिये जीओ' का हम-सबको मंत्र दिया।

(शेष आगामी अंक में)

संस्कृत साहित्य और श्रीरामकृष्ण-भावधारा (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामीजी का संस्कृत-प्रेम

स्वामीजी की जीवनी में लिखा है कि बचपन में ही उनके घर में रहनेवाले एक वृद्ध सम्बन्धी उन्हें देवी-देवताओं के कुछ स्तोत्र तथा मुग्धबोध नामक संस्कृत-व्याकरण के सूत्रों को मौखिक रूप से उन्हें सिखाया करते थे। अपने माता-पिता तथा इन सम्बन्धी की सहायता से उन्हें अल्प आयु में ही संस्कृत भाषा का थोड़ा-बहुत ज्ञान हो गया था। उनकी छात्रावस्था में भी इस ज्ञान में वृद्धि होती रही।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद जब वे अपने गुरुभाइयों के साथ वराहनगर मठ में निवास करते थे, उस समय उन लोगों के बीच कॉन्ट, हेगेल, स्पेन्सर आदि पाश्चात्य दार्शनिकों की विचारों के साथ ही गीता, उपनिषद्, तंत्र, पुराण, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि मत भी उनकी चर्चाओं के दायरे में आ जाते थे। उन दिनों उन्होंने प्रमदा बाबू को जो पत्र लिखे थे, उनमें संस्कृत भाषा, विशेषकर वैदिक शिक्षा के प्रति उनका विशेष आग्रह दीख पड़ता है। स्वामीजी ने अपने ११ नवम्बर, १८८८ के पत्र में लिखा था, "मैंने आपसे जो पाणिनि व्याकरण की प्रति मँगायी है, वह केवल अपने लिए ही नहीं है; वस्तुत: इस मठ में संस्कृत धर्मग्रन्थों का खूब अध्ययन हो रहा है। वेदों के बारे में तो यहाँ तक कहा जा सकता है की उनका अध्ययन बंगाल में बिल्कुल उठ गया है। इस मठ में बहुत से लोग संस्कृत जानते हैं और उनकी इच्छा है कि वे वेदों के संहिता आदि भागों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें। ... मेरा विश्वास है कि पाणिनि व्याकरण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किए बिना वेदों की भाषा में पारंगत होना असम्भव है और एकमात्र पाणिनि व्याकरण ही इस कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए इसकी एक प्रति की आवश्यकता हुई।..."[१२]

अमेरिका जाने के पूर्व स्वामीजी ने एक परिव्राजक के रूप में वर्षों उत्तर-पश्चिमी भारत का भ्रमण किया था। उस दौरान उन्होंने जयपुर, खेतड़ी, पूना तथा बम्बई में काफी समय बिताया और उपलब्ध साहित्य तथा विद्वानों की सहायता से संस्कृत के व्याकरण तथा विभिन्न शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन भी किया। कई जगह वे संस्कृत में ही वार्तालाप करते थे। वे चाहते थे कि हर भारतवासी – विशेषकर युवावर्ग संस्कृत सीखकर, स्वयं ही अपने महान् पूर्वजों के प्राचीन ग्रन्थों को पढ़कर – अपनी भ्रान्त धारणाओं को दूर करे और ऋषियों के अमोल ज्ञान का अपने जीवन तथा क्रिया में सदुपयोग करे।

१२. विवेकानन्द-साहित्य, सं. १९६३, खण्ड १, पृ. ३२२-२३

कुछ झलकियाँ

दिल्ली में अपने गुरुभाइयों से विदा लेने के बाद स्वामीजी ने एकाकी यात्रा शुरू की और राजस्थान के **अलवर नगर** में जा पहुँचे। वहाँ अनेक लोग उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। उनके उपदेशों पर चलकर वहाँ कई युवक संस्कृत सीखने में रुचि लेने लगे। स्वामीजी ही बीच-बीच में उन लोगों को पढ़ाया करते। वे कहते, "संस्कृत पढ़ो और उसके साथ-साथ पश्चिमी देशों के विज्ञान का भी अध्ययन करो। सभी वस्तुओं को समुचित तथा यथार्थ रूप से देखना और बोलना सीखो। पढ़ो और परिश्रम करो, ताकि अपने देश के इतिहास को विज्ञान सम्मत भित्ति पर नये रूप से प्रस्तुत कर सको।"[१३] बाद में भी वे उन युवकों को पत्र द्वारा इस दिशा में प्रेरित करते रहे। आबू पर्वत से ३० अप्रैल (१८९१) को एक पत्र में लिखा था, "क्या संस्कृत पढ़ रहे हो? कितनी प्रगति हुई है?"[१४]

"जयपुर में ... एक विद्वान् वैयाकरण से परिचय होने पर उन्होंने उनसे पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' व्याकरण पढ़ना शुरू किया, पर इस शास्त्र में विलक्षण विद्वत्ता होने पर भी पण्डितजी की अध्यापन-प्रणाली सरल नहीं थी। इसके फलस्वरूप उनके द्वारा लगातार तीन दिनों तक पातंजल-भाष्य सहित प्रथम सूत्र की व्याख्या किये जाने पर जब उन्होंने देखा कि उसका तात्पर्य स्वामीजी को बोधगम्य नहीं हुआ, तो चौथे दिन वे स्वामीजी से बोले, 'स्वामीजी, मुझे लगता है कि जब तीन दिनों में भी मैं आपको प्रथम सूत्र का ही अर्थ नहीं समझा सका, तब मुझसे आपको कोई विशेष लाभ नहीं होगा।' इस प्रकार की बात से स्वभावत: विशेष लज्जित हो स्वामीजी ने दृढ़ संकल्प किया कि चाहे जैसे हो अपने ही प्रयास से वे उक्त भाष्य का अर्थ समझेंगे और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वे अन्य किसी ओर मन नहीं लगाएँगे। संकल्प कर एकान्त स्थान में वे उसे स्वायत्त करने बैठे। पण्डितजी के द्वारा जो तीन दिनों में नहीं हो सका था, उसे स्वामीजी ने अपने उद्यम तथा एकाग्र मनोयोग के प्रभाव से तीन घण्टों में प्राप्त कर लिया। कुछ ही देर बाद वे पण्डितजी के समक्ष उपस्थित हो उस भाष्य की व्याख्या करने प्रवृत्त हुए। तब उनकी सुचिन्तित, सरल एवं गूढ़ लक्ष्यार्थयुक्त तर्कपूर्ण व्याख्या सुनकर पण्डितजी चकित रह गए। तदुपरान्त स्वामीजी सहज भाव से ही सूत्र-पर-सूत्र, अध्याय-पर-अध्याय पढ़ने लगे। इस घटना का उल्लेख कर वे बाद में कहा करते, 'मन में यदि प्रबल आग्रह हो तो सब कुछ सम्भव हो जाता है

१३. युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ. २६५

१४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३७९

– यहाँ तक कि पर्वत भी चूर चूर होकर धूल के कण में बदल जा सकता है।' "[१५]

बाद में खेतड़ी में निवास के दौरान भी स्वामीजी ने अपने ज्ञान-भण्डार को समृद्ध किया। राजस्थान के प्रमुख वैयाकरण पण्डित नारायणदास से परिचय होने पर वहाँ भी उन्होंने पाणिनी-व्याकरण का आगे अध्ययन शुरू किया। पतंजलि के महाभाष्य का ऐसा प्रखर मेधावी छात्र पाकर पण्डितजी भी बड़े आनन्दित हुए। एक बार पिछले दिन के एक दीर्घ पाठ के बारे में पण्डितजी द्वारा प्रश्न पूछने पर उन्होंने पूरे पाठ की हू-ब-हू पुनरावृत्ति कर दी और साथ ही अपने विचार भी जोड़ दिये। पण्डितजी ने कुछ दिनों में ही समझ लिया कि स्वामीजी स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो गए हैं, तब वे बोले, "स्वामीजी, अब आपको और कुछ सिखाने को नहीं बचा। मैं जो कुछ जानता हूँ, सब सिखा चुका और आपने भी उसे आत्मसात् कर लिया है।" तब स्वामीजी ने सादर पण्डितजी को नमस्कार किया तथा कृपापूर्वक शिक्षा देने के लिए उन्हें आन्तरिक धन्यवाद ज्ञापित किया।"[१६]

संस्कृत-विद्या को लुप्त होते देख स्वामीजी अत्यन्त व्यथित हो उठते थे, यह उनके कुछ काल बाद २२ अगस्त (१८९२) को बम्बई से लिखे एक पत्र में व्यक्त हो उठता है, "देश के इन भागों में यह देखकर मुझे बड़ा दुख होता है कि संस्कृत तथा अन्य विद्याओं के ज्ञान का बड़ा अभाव है। देश के इस भाग के लोग स्नान, खान-पान आदि सम्बन्धी स्थानीय अन्धविश्वासों के पुंज को ही अपना धर्म समझते हैं और यही उनका सारा धर्म है। ये बेचारे ! इनके नीच और धूर्त पुरोहित वेदों और हिन्दू धर्म के नाम पर निरर्थक हास्य-पूर्ण कुरीतियाँ तथा मूर्खताएँ सिखा रहे हैं। (याद रहे कि इन दुष्ट पुरोहितों ने और इनके पूर्वजों ने ४०० पुश्तों से वेद की एक प्रति का दर्शन तक नहीं किया है); आम लोग उसी का अनुगमन करके अपने को पतित कर लेते हैं। कलियुगी ब्राह्मण-रूपी राक्षसों से भगवान ही इनकी रक्षा करें !"[१७]

संस्कृत में 'विवेकानन्द-साहित्य'

परवर्ती काल में स्वामीजी ने स्वयं भी संस्कृत में कुछ रचनाएँ की थीं। उनके लिखे संस्कृत में (१) कुछ स्तोत्र[१८], यथा – शिवस्तोत्रम्, अम्बास्तोत्रम्, श्रीरामकृष्ण-स्तोत्रम्, श्रीरामकृष्ण-आरत्रिकम्, श्रीरामकृष्णप्रणामः (२) अपने शिष्यों स्वामी शुद्धानन्द तथा शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को १८९७ ई. के नाम१९ मार्च, १ जून, ३ व ११ जुलाई और १५ सितम्बर को लिखे गये ५ पत्र उपलब्ध हैं।[१९] (३) इसके सिवा उन्होंने कुछ स्फुट श्लोकों की रचना भी की थी। यथा २५ सितम्बर १८९४ को न्यूयार्क से अपने गुरुभाइयों को उत्प्रेरित करते हुए उन्होंने निम्नलिखित श्लोक लिखे थे –

किन्नाम रोदिषि सखे त्वयि सर्वशक्तिः
आमन्त्रयस्व भगवन् भगदं स्वरूपम्।
त्रैलोक्यमेतदखिलं तव पादमूले
आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित्॥

– हे सखे, तुम क्यों रो रहे हो? सब शक्ति तो तुम्हीं में है। हे भगवन्, अपना ऐश्वर्यमय स्वरूप विकसित करो। ये तीनों लोक तुम्हारे पैरों के नीचे हैं। जड़ की कोई शक्ति नहीं – प्रबल शक्ति आत्मा की ही है।

कुर्मस्तारक-चर्वणम् त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात्।
किं भो न विजानास्यस्मान् – रामकृष्णदासा वयम्॥

– हम तारों को अपने दाँतों तले पीस दे सकते हैं, बलपूर्वक तीनों लोकों को उखाड़ सकते हैं। हमें नहीं जानते? हम श्रीरामकृष्ण के दास हैं!

क्षीणा स्म दीनाः सकरुणा जल्पन्ति मूढ़ा जनाः
नास्तिक्यन्त्विदन्तु अहह देहात्मवादातुराः।
प्राप्ताः स्म वीरा गतभया अभयं प्रतिष्ठां यदा।
आस्तिक्यन्त्विदन्तु चिनुमः रामकृष्णदासा वयम्॥

– जो लोग देह को आत्मा मानते हैं, वे ही करुण कण्ठ से कहते हैं – हम क्षीण हैं, हम दीन हैं। यह नास्तिकता है। जब हम लोग अभयपद में स्थित हैं, तो हम निर्भय वीर क्यों न हों! यही आस्तिकता है। हम रामकृष्ण के दास हैं।

पीत्वा पीत्वा परमममृतं वीत-संसार-रागाः
हित्वा हित्वा सकल-कलह-प्रापिणीं स्वार्थ-सिद्धिम्।
ध्यात्वा ध्यात्वा गुरुवर-पदं सर्व-कल्याणरूपं
नत्वा नत्वा सकल-भुवनं पातुमामन्त्रयामः॥

– संसार में आसक्ति छोड़कर, सारे झगड़ों की जड़ आसक्ति को त्यागकर, परम अमृत का पान करते हुए, सर्व-कल्याण-स्वरूप श्रीगुरु के चरणों का ध्यान कर, विनम्रतापूर्वक सारे संसार को उस अमृत का पान करने के लिए बुला रहे हैं।

प्राप्तं यद्वै त्वनादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा।
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहर-ब्रह्मादि-देवैर्बलम्।
पूर्णं यत्तु प्राणसारैर्भौम-नारायणानाम्
रामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः॥

– अनादि अनन्त वेदरूप समुद्र का मन्थन करके जो कुछ मिला, ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि ने जिसमें अपनी शक्ति जोड़ी, जिसमें अवतारों के प्राणों का सार-पदार्थ है, श्रीरामकृष्ण अमृत के पूर्ण पात्रस्वरूप उसी देह को लेकर आये थे।[२०]

---

१५. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. २७०-७१
१६. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. २७६-७७
१७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३८३-८४
१८. देखिये विवेकानन्द-साहित्य, खण्ड ९, पृ. ३३८-४६
१९. वही, खण्ड ६, पृ. ३०४, ३२८, ३३८, ३४९, ३७०
२०. वही, खण्ड ३, पृ. ३११-१२

स्वामीजी द्वारा रचित दो पुस्तिकाओं के संस्कृत-अनुवाद का प्रकाशन हो चुका है, विवरण इस प्रकार है –

'वर्तमान-भारतम्' (बँगला से) – अनुवादक तथा प्रकाशक – सीतानाथ गोस्वामी, १९६८, पृ. ३५

प्राच्य-पाश्चात्यम् (बँगला से) – अनुवादक तथा प्रकाशक – सीतानाथ गोस्वामी, १९६८, पृ. ८८

स्वामीजी की कुछ कविताओं के संस्कृत अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। उनके **'संन्यासी का गीत'** का अनुवाद नित्यानन्द भारती ने किया है।[२१]

संस्कृत में जीवनी तथा काव्य ग्रन्थ

संस्कृत में भावधारा से सम्बन्धित जीवनियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है महाकाव्य – **श्रीश्री-रामकृष्ण-भागवतम्** (कोलकाता, १९६९, पृ. ६३+घ+१६+८७६), जिसकी रचना श्री रामेन्द्र सुन्दर भक्तितीर्थ ने की है। देवनागरी में मूल संस्कृत के साथ ही अंग्रेजी तथा बँगला अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। यह महाकाव्य आदि-मध्य-अंत्य-लीला-क्रम से भूमिका तथा परिशिष्ट आदि के साथ कुल ३१ अध्याय (६ अंक) और ३२३० श्लोकों में निबद्ध है। कवि ने करीब ८ वर्ष की आयु में (१८८२ ई.) अपने पिता के साथ दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्ण का दर्शन तथा आशीर्वाद प्राप्त किया था।[२२]

स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा रचित **वेदमूर्ति श्रीरामकृष्ण** (पृ. ८+२९९) संस्कृत में एक अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन है। गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री ने इसका बँगला से संस्कृत में अनुवाद किया है और १९६३ ई. में यह 'स्वामी विवेकानन्द जन्म-शतवर्ष-जयन्ती समिति' द्वारा प्रकाशित हुआ। (द्वितीय सं. (पृ. २५०) १९८६ में कालडी (केरल) के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम से निकला।) इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के १६२ पृष्ठों में श्रीरामकृष्ण की और बाकी ८८ पृष्ठों में उनकी लीला-सहधर्मिणी श्रीसारदा देवी की जीवनी है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसीयम् या युगदेवता-शतकम् – नागपुर निवासी कवि श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा रचित एक खण्ड-काव्य है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध सौ श्लोकों में भगवान श्रीरामकृष्ण की सम्पूर्ण विभूतियों का भावपूर्ण वर्णन हुआ है।[३०] इसके हिन्दी संस्करण की भूमिका में कवि ने बताया है कि १९३२ ई. में अण्णा सोहोनी ने उन्हें नरहर परांजपे लिखित श्रीरामकृष्ण का बृहत् चरित्र पढ़ने को दिया। उन्हीं के शब्दों में, "वह चरित्र जब मैं पढ़ने लगा, तब उस दिव्य-अद्भुत विभूति के प्रति मेरे बाल-अन्त:करण में अपार श्रद्धा और भक्ति का उद्रेक हुआ। ... श्रीरामकृष्ण की प्रत्येक लीला मानो मेरे हृदय में दृढ़ांकित-सी हुई। ... उनका स्मरण मुझे नित्य होता रहा और आज भी उतनी ही उत्कटता से होता है।"[३१] १९३७ में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की उक्तियों की एक छोटी-सी पुस्तिका खरीदी। चिन्तन-मनन तथा कण्ठस्थ करने में सुविधा की दृष्टि से वे उसका 'रामकृष्ण-गीता' नाम से संस्कृत श्लोकों में अनुवाद करने लगे। १९३८ में वह पाण्डुलिपि कहीं खो गयी। अनेक वर्षों बाद एक बार वे प्राच्य-विद्या-परिषद् के अधिवेशन में भाग लेने के लिये अकेले ही 'जनता एक्सप्रेस' से दिल्ली जा रहे थे। नागपुर से ट्रेन के प्रस्थान करने के लगभग आधे घण्टे बाद गाड़ी के तालबद्ध लय के साथ उनके मन में भी उसी लय-ताल में मन्दाक्रान्ता छन्द में श्रीरामकृष्ण पर चिन्तन आरम्भ हुआ। कवित्व का वेग उत्कट था। वे मन में उठनेवाली हर पंक्ति को लिपिबद्ध करते गये। नागपुर से दिल्ली की यात्रा पूरी होते-होते सौ श्लोकों की रचना भी पूरी हो चुकी थी।

हिन्दी अनुवाद के साथ इसका प्रथम संस्करण १९५७ ई. में पुणे के शारदा प्रकाशन द्वारा मुद्रित कराया गया।[२३] इसकी भूमिका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सर-संचालक श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकरजी ने लिखी है। नागपुर विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के रीडर डॉ. आर.एन.रॉय कृत आंग्ल अनुवाद के साथ यह १९७२ में भारतीय विद्या भवन, मुम्बई और ब्रह्मचारी निरंजन-चैतन्य कृत इसका बँगला अनुवाद १९८९ में श्री सत्यानन्द देवायतन, कोलकाता से प्रकाशित हुआ।

श्रीरामकृष्ण-कर्णामृतम् – ओट्टूर बालभट्ट (ओट्टूर उन्नी नम्बूदरीपाद) – यह लीलाशुक द्वारा रचित श्रीकृष्ण-कर्णामृतम् की परम्परा में लिखा गया है। प्रथम देवनागरी संस्करण १९६३ में प्रकाशित हुआ, १९७२ में मलयालम लिपि में मुद्रित होने के बाद स्वामी तपस्यानन्द जी के आंग्ल अनुवाद के साथ १९७५ में मद्रास के रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें ९ सर्गों में कुल २८० श्लोक निबद्ध हैं। इसकी भूमिका स्वामी विमलानन्दजी ने लिखी है। कवि ने सूचित किया है सात वर्ष पूर्व यह रचना 'तुलसी-सुगन्धम्' नामक मलयालम मासिक में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुकी है और कोचीन-राज-परिवार की आर्थिक सहायता से अब इसे पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

श्रीरामकृष्ण-सुप्रभातम् – पूर्वोक्त कवि ने कुल ११८ श्लोक लिखकर १९६७ ई. में 'तुलसी-सुगन्धम्' मासिक में प्रकाशित कराये थे। २००४ ई. में कयमकुलम (केरल) के श्रीरामकृष्ण आश्रम ने उनमें से चुने हुए १०० श्लोकों को देवनागरी, रोमन, मलयालम तथा तमिल लिपियों में सानुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित कराया।

२१. आज का भारतीय साहित्य, वे. राघवन, १९५८, पृ. ३०८

२२. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, कालीजीवन देवशर्मा, कोलकाता, सं. २००३, भाग २, ग्रन्थ परिक्रमा, पृ. ६९

२३. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, १९८८, पृ. ३०१

इनके अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण के चरित्र विषयक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें निम्नलिखित हैं –

(क) श्रीरामकृष्ण-परमहंसोपनिषत् – स्वामी हर्षानन्द, रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद, ई. १९८७, पृ. ३२ – प्राचीन कृष्ण-यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य के अनुसार स्वर-संयोजन के साथ रचित यह लघु उपनिषद् अनेक वर्षों पूर्व लिखी गयी थी। अंग्रेजी अनुवाद तथा विवरण के साथ 'वेदान्त-केसरी' मासिक के नवम्बर-दिसम्बर १९८५ अंक में प्रकाशित हुई और डॉ. केदारनाथ लाभ द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर 'विवेक-शिखा' के १९८६ के अगस्त-सितम्बर अंकों में मुद्रित हुई। बाद में इसे पुस्तिका का रूप मिला।

(ख) श्रीरामकृष्ण-परमहंसदेवस्य चरितम् – स्वामी हर्षानन्द पुरी, श्रीरामकृष्ण आश्रम, बैंगलोर, द्वितीय सं. १९७५, पृ. २८ – इसमें २२ लघु अध्यायों में विभक्त श्रीरामकृष्ण की जीवनी है और पुस्तिका के अन्त में श्रीरामकृष्ण-परमहंसोपनिषत् तथा १९ श्लोकों में श्रीरामकृष्ण-प्रणति-मालिका है। भूमिका में सूचित किया गया है कि इसकी रचना १९७२ में हुई और १९७५ में इसे मैसूर के संस्कृत दैनिक 'सुधर्म' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष मैसूर के श्रीरामकृष्ण आश्रम द्वारा इसका पहला संस्करण निकाला गया।

(ग) श्रीरामकृष्ण-लीला-भागवतम् – निखिल बन्धु भट्टाचार्य, कोलकाता, १९७० ई., पृ. ३२। इसमें कुल १२२ संस्कृत श्लोक तथा उनका बँगला अनुवाद हैं। इसके प्रथम ३२ श्लोकों में श्रीरामकृष्ण-विषयक देव-चरित्र, २४ श्लोकों में श्रीशारदादेवी-विषयक देवी-चरित्र, १९ श्लोकों में स्वामी विवेकानन्द स्मरणे, २ श्लोकों में स्वामी विवेकानन्द-उपदेशः, ३१ श्लोकों में स्वामी अखण्डानन्द स्मरणे, २ श्लोकों में स्वामी अखण्डानन्द-उपदेशः, १२ श्लोकों में श्रीरामकृष्ण के ६ उपदेश हैं। पुस्तिका के मुखपृष्ठ पर रचयिता ने लिखा है कि उन्होंने उसे अपने गुरुदेव स्वामी परमात्मानन्द की अनुमति से उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण-संघ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज द्वारा सारगाछी में आश्रम की स्थापना-दिवस के अवसर पर वितरण हेतु प्रकाशित किया है।

(घ) रामकृष्ण-परमहंस-चरितम् – श्री पी. पंचपागेश शास्त्री ने श्रीरामकृष्ण परमहंस की जीवनी गद्य में लिखी है। मद्रास १९३७।[२३]

(च) श्रीरामकृष्ण चरितम् – ले. वेंकटकृष्ण तम्बी।[२४]

श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्रीसारदा देवी के जीवन तथा आदर्शों को केन्द्र बनाकर मुख्यतः निम्नलिखित संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई –

अम्बादी देवकी के. मेनन द्वारा रचित **श्रीश्रीसारदा-देवी-चरित-संग्रहः (खण्ड-काव्यम्)** – माताजी के जीवनी पर ९ सर्गों तथा २९१ श्लोकों में निबद्ध एक उल्लेखनीय संस्कृत काव्य है। यह स्वामी तपस्यानन्द कृत अंग्रेजी अनुवाद के साथ देवनागरी लिपि में चेन्नै के श्रीरामकृष्ण मठ द्वारा १९७७ ई. में मुद्रित हुआ है। इसमें श्रीसारदाष्टकम् तथा १६ श्लोकों में सारदादेवी की सूक्तियाँ भी हैं। रचयित्री चेन्नै एजूकेशन सर्विस की अवकाशप्राप्त प्राध्यापिका हैं।[२५]

ब्रह्मचारी ध्यान-चैतन्य द्वारा लिखित **श्रीसारदा-चरितम्** (पृ. ३७) १९५४ ई. में वृन्दावन के 'माँ सारदादेवी जन्म-शताब्दी समिति' के सचिव स्वामी कृपानन्द द्वारा प्रकाशित हुआ। प्रकाशक के निवेदन में बताया गया है कि यह एक वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। इस पुस्तिका में कुल १३० श्लोक और साथ में उनके हिन्दी अनुवाद भी है। प्रथम ९२ श्लोकों में अनुष्टुप छन्द में माँ का संक्षिप्त चरित्र निरूपित हुआ है और बाकी श्लक स्तुति एवं प्रार्थना के हैं, जिनकी रचना पज्झटिका, रुचिरा, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी, शार्दूल-विक्रीडित तथा द्रुत-विलम्बित आदि छन्दों में हुई है। इसके सम्पादन में अनेक विद्वानों ने सहायता की है। भूमिका वृन्दावन नगरपालिका के शिक्षा-अध्यक्ष श्री नृसिंह वल्लभ गोस्वामी ने लिखी है। सातवाँ श्लोक इस प्रकार है –

नाशयन्ती तमोराशिं भासयन्ती हृदम्बरम्।
वासयन्ती च भूतानि शारदा शं तनोतु नः।।

– अज्ञानरूप अन्धकार-राशि को दूर करके हृदयाकाश को आलोकित करते हुए, प्राणियों को आश्रय प्रदान करते हुए श्री शारदा देवी हमारे कल्याण का विस्तार करें।

शारदामणि-लीला-चरितम् – श्री बालकृष्ण द्वारा ग्यारह सर्गों में रचित काव्यमय जीवनी। हिन्दी अनुवाद – धर्मपाल शास्त्री, प्रथम संस्करण १९९२ ई., पृ. १३५, प्रकाशक – उत्कल आश्रम, तपोवन, हरिद्वार।

श्रीसारदा-मातुः चरमोपदेशः – स्वामी हर्षानन्दजी ने माँ के अन्तिम उपदेश को एक संस्कृत श्लोक में निबद्ध किया है और संस्कृत में उसकी टीका भी लिखी है। यह एक पत्रक के रूप में इलाहाबाद के रामकृष्ण मठ से प्रकाशित हुई है। इसके अन्त में एक प्रणाम-मंत्र भी है –

माता मे सारदादेवी रामकृष्ण-प्रभुः पिता।
बान्धवा निखिला भक्ताः स्वदेशो भुवनत्रयम्।।

❖ (क्रमशः) ❖

२३. आज का भारतीय साहित्य, पृ. ३०० तथा संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, पृ. ३०१

२४. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, पृ. ३८४

२५. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, कालीजीवन देवशर्मा, भाग २, पृ. ८०

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

बेलूड़ मठ के पुराने मन्दिर के नीचे चौड़े पक्के चबूतरे पर मंच बनाकर इस बार दुर्गापूजा के अवसर पर गिरीश चन्द्र के 'जना' नाटक का मंचन हुआ था। बागबाजार के ही लड़कों ने अभिनय किया था। स्वामीजी का 'गौरे' (नरेशचन्द्र घोष) प्रवीर तथा तुलसीराम-जामाता नारानबाबू के अग्नि का भाग लेना स्पष्ट याद है। माँ ने दुमंजले पर स्थित शिवानन्दजी के कमरे से अभिनय को देखा और सबके साथ आनन्दित हुईं। बलराम बाबू के भतीजे निताई बाबू (माँ के शिष्य नित्यानन्द बसु) ने इस वर्ष के दुर्गोत्सव का सारा खर्च – एक हजार एक रुपया – सानन्द वहन किया था। प्रथम विश्वयुद्ध चल रहे होने के बावजूद अब की तुलना में तब काफी सस्ती का समय था।

पहले ही बता चुका हूँ कि प्रतिमा के सामने रात में देवी-भजन होते। दुमंजिले से साधु-ब्रह्मचारियों के कण्ठ से मातृनाम सुनकर माँ मानो मोहित हो जातीं। एक रात के भजन के समय की घटना है। सुनते-सुनते महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) को भाव हुआ। उन्हें मण्डप से सहारा देकर (गंगा के सामने स्थित) ज्ञान महाराज के कमरे के बगलवाले नीचे के कमरे में ले जाया गया। माँ ने जब ऊपर से आकर उनके कान में नाम सुनाया और सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया, तभी वे सहज अवस्था में आये। बलराम बाबू के पुत्र रामबाबू के सफेद घोड़े तथा काले रंग की गाड़ी पर बैठकर माँ मठ गयी थीं और उसी से कलकत्ते लौटीं। बेलूड़ मठ के पुराने राजसिक द्वार (जो अब लुप्त हो चुका है) से उनकी गाड़ी के प्रवेश करते ही शहनाई की मधुर ध्वनि, आम्र-पल्लव, सजे हुए मंगल घट और निरन्तर शंखध्वनि के साथ बाबूराम महाराज आदि का उच्च स्वर में जय-जयकार अब भी याद है। प्रांगण में माँ की गाड़ी रुकते ही गोलाप-माँ ने अपने सफेद वस्त्र का आँचल बिछा दिया। उन्हें हर तरह के कार्य कौशल मालूम था। गाड़ी के भीतर से माँ ने अपने दोनों श्रीचरण बाहर बढ़ा दिये। एक-एक कर सभी व्यक्तियों को पंक्तिबद्ध होकर शान्त संयत भाव से जीवन्त दुर्गा के श्रीचरणों को स्पर्श करने का सौभाग्य मिला और उससे कृतार्थता का बोध हुआ। लौटते समय भी वैसी ही व्यवस्था और वही दृश्य ! ऐसा लगा मानो श्रद्धा-भक्ति का स्रोत बह रहा हो। विस्तीर्ण मठभूमि में भक्तों का महा-जमाव। छुट्टी का दिन था। कतार में खड़े सभी लोगों ने कृतांजलि की मुद्रा में हाथ जोड़कर माँ को उनके 'घर' – उद्बोधन के लिये विदा किया। सुश्रृंखला का एक सुन्दर चित्र उपस्थित हो गया।

बागबाजार के बोसपाड़ा लेन में, जहाँ अब लाख का कारखाना है, उसके पास ही स्थित निवेदिता बालिका विद्यालय के छात्रावास में माँ अपनी पालिता कन्या राधू को लेकर हैं। (३१ दिसम्बर १९१८ से २६ जनवरी १९१९ तक) राधू आधी पागल है। उसे आवाज सहन नहीं होता। लकड़ी की हल्की आवाज से भी बेचैन हो जाती है। माँ को प्रणाम करने गया। उनके द्वार हम लोगों के लिए सदा खुले रहते हैं। निवेदिता स्कूल का छात्रावास ५३/२ बोसपाड़ा लेन के भाड़े के मकान में है। माँ राधू को लेकर दुमंजले के एक कमरे में हैं। लकड़ी की सीढ़ी से चढ़ना पड़ता है। वे सदैव सजग रहती हैं। मेरे पैरों की आहट पाते ही बड़े मृदु स्वर से बोलीं, "बेटा, धीरे-धीरे चढ़ना, आवाज न हो।"

भक्तों की लायी गयी एक टोकरी सब्जी योगीन-माँ ने एक थैले में माँ को देने के लिए दिया था। देखकर माँ बोलीं, "अहा बेटा, तुम यह सब ढोकर कष्ट करके ले आये? योगीन का कार्य कैसा है? यहाँ इतना कौन खायेगा? वहाँ (उद्बोधन में) बच्चे-बच्चियाँ सब हैं, वहाँ अधिक सब्जियों की आवश्यकता है।" मैंने पूछा, "आप कैसी हैं?" बोलीं, "देखो न, और कैसी हूँ ! बाँस की लकड़ी झुकाकर उसे नारियल की रस्सी से धनुष बनाकर, उस पर लम्बी लकड़ी का तीर लगाकर सारे दिन कौओं को भगाती फिरती हूँ। राधू को कौओं तक की आवाज से कष्ट होता है। (हँसते-हँसते) योगीन से कहना, राम-अवतार में सीता को तीर-धनुष नहीं पकड़ना पड़ा, इस बार राधि ने मुझसे वह भी कराया।"

तब मेरी उम्र १५ वर्ष थी। बड़े भाई से मार खाकर माँ-सारदा और सारदानन्द के अमृत-सिन्धु में गिर पड़ा था। वैराग्य के चलते आध्यात्मिक खाद्य पाने की आशा-आकांक्षा या भूख लेकर मेरा उनके श्रीचरणों में आना नहीं हुआ था।

मैं तो केवल इसी आशा के साथ आया था कि उनके साथ रहकर मेरा पढ़ना-लिखना हो जायगा और गाड़ी की सवारी की क्षमता न भी हो, तो स्वाधीन भाव से जीविकोपार्जन करने में समर्थ हो सकूँगा। अपने कैशोर्य तथा यौवन के संगम की उम्र में कुछ माह उनके साथ रहते-रहते, मन के भीतर-ही-भीतर माँ के विषय में एक अज्ञात अविश्वास की हल्की-सी आँधी चल रही थी। – ये कौन हैं? दिन-रात इन्हें उठते बैठते देखता हूँ। अभ्यस्त हो गया हूँ। यत्न करती हैं। खूब प्रसाद खाने को देती हैं। पर इनमें देवीत्व आदि कहाँ है?

१९१७ ई. के अन्त में मैट्रिक पास कर लेने पर कॉलेज की पढ़ाई का थोड़ा अभिमान जागा। जरा-सा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ ऊपर-ऊपर से पलट लिया, 'लीलाप्रसंग' को भी सरसरी तौर पर देखा। विज्ञान के लिये ईश्वर-तत्त्व अगम्य है। संयम तथा दीर्घकालीन साधना-तपस्या न हो, तो इस पथ पर सब कुछ अन्धकार दिखेगा, व्यर्थ बोध होगा। अहंकार का तो कोई सिर-पैर होता नहीं, आ ही जाता है। लगा कि मैं माँ को समझने योग्य हो गया हूँ और शरत् महाराज की तो कोई बात ही क्या! माँ, प्रात:काल पूजा के आसन पर एकाग्र मन से बैठकर ध्यान तो करती हैं, परन्तु श्रीरामकृष्ण के समान बारम्बार उनका बाह्य ज्ञान कहाँ लोप होता है? रुपये छूते ही हाथ कहाँ टेढ़ा होता है? तो क्या योजनाबद्ध ढंग से उन्हें जगदम्बा बना दिया गया है? चारभुजा या दशभुजा देखने पर विश्वास हो जाता। मानो मुझे मालूम था कि अवतार के महाशक्ति को परखने का मापदण्ड क्या है! बिल्ली के भाग्य से छींका टूटने के समान रामकृष्ण के साथ विवाह हो गया। तो बाकी सब क्या उसी से गढ़ लिया गया? किसी ने मास्टर महाशय से पूछा, "आपके प्रभु को तो बारम्बार भावसमाधि होती थी। आपमें तो भावावेश दिखता नहीं।" उन्होंने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "भाई, अब क्या तुम्हारे लिए भाव लगाकर बैठा रहूँगा?" उस समय माँ का पूरा जीवन ही तो मेरे लिये अज्ञात था। उस समय कौन जानता था कि निर्विल्प समाधि हुए बिना पूरा अहंकार नहीं जाता! उस समय तक मुझे ज्ञात न था कि माँ के जीवन में कितनी कठोरता, कितनी तपस्या, कितनी भाव-समाधियाँ और स्मित समाधियाँ हो चुकी हैं! उस समय भला मैं कैसे समझ सकता था कि माँ एक तरह से निरन्तर समाधिस्था ही हैं। प्रभु ने समाधि की परिभाषा की है, "पूरा मन एकाग्र होना और बाह्य दृष्टि न होना – इसी को समाधिस्थ होना कहते हैं।" उन दिनों माँ सर्वदा ही ईश्वर में आत्मस्थ रहा करती थीं। मानो पक्षी का मन अपने अण्डे की ओर हो और ऊपर की ओर केवल नाममात्र की दृष्टि हो। अब उस मुख-मण्डल की स्मृति को लाकर समझ पाता हूँ। खाली दृष्टि! दोनों नेत्रों अनमने-से प्रतीत होते। मानो ठीक-ठीक ईश्वरोन्मुख हों।

उनकी लीला का अन्तिम पर्व! वे धरती पर उदारतापूर्वक शक्ति वितरण करने के बाद अब अपनी जीवन लीला समेट रही थीं। बाहर से कितना सहज भाव दीख पड़ता था! भाव-संवरण की उनमें असीम क्षमता थी। तब भी समझ नहीं सका था कि माँ देवी हैं और मानवी भी। वे सोऽहम्-बोध का स्पर्श करके प्रभु की दासी के रूप में उनकी महिमा का प्रचार कर रही हैं; उससे थोड़ा नीचे उतरकर लोक-व्यवहार करती हैं। श्रीरामकृष्ण की भाषा में – सहसा विवाह नहीं हुआ, सब कुछ पूर्व-निर्धारित था। ये ही – युग-युग की शक्ति-स्वरूपिणी उनके लिये सुयोग्य कन्या के रूप में चिह्नित थीं। वे जिस-तिस को अपना दिव्य भाव क्यों दिखायेंगी? दीक्षित वेतनभोगी बाजार जानेवाले कर्मचारी (चन्द्रमोहन दत्त) से बोलीं, "तत्त्वज्ञान तुम्हारे दिमाग में नहीं घुसेगा। जो कहती हूँ, सौदा ले आओ।" जो जिसके योग्य है, उससे वैसा व्यवहार। उनमें लघुता तो थी ही नहीं। प्रभु ने विषयी से कहा, "ठीक कहते हो। नरेन आदि ही मेरा सिर खा रहे हैं। अवतार को भला कैंसर कैसे होगा!" केवल विचार के द्वारा अवतारवाद को नहीं समझा जा सकता। काम-कांचन की आसक्ति से पूर्णत: रहित नरेन्द्र आदि ने ही उन्हें और माँ को समझा। प्रभु कहते, माँ, मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिये – मुझे भक्ति-भक्त के स्तर पर रखना, आनन्द करूँगा, बिल्कुल जड़ करके मत रखना। इसका अर्थ ब्रह्मज्ञान तुच्छ हो, ऐसी बात नहीं। माँ उस समय भी सूक्ष्म 'मैं' के सहारे कृपा-वितरण के कार्य में लगी हुई थीं। ऐसा नहीं कि साधिका रूप में माँ सर्वोच्च स्तर तक न उठी हों। प्रकृतिस्थ और समाधिस्थ – इन दोनों स्तरों में उनका आना-जाना हुआ करता था। लोक-व्यवहार के बीच भी उनके अन्तर में सर्वदा योगावस्था बनी रहती थी।...

जिन दिनों मैं दिन-रात उनके सान्निध्य में था, तब वे ६२ वर्ष की थीं और मैं १५ वर्ष का बालक था। तब तक मेरे बाल-हृदय में विषय-बुद्धि का लेश मात्र भी प्रवेश नहीं हुआ था। अत: सन्देह आना नितान्त स्वाभाविक था। दो वर्ष बाद आया भी था, पर उनकी कृपा से उनके पास रहते-रहते – उनकी असामान्यता, समरसता, इतना आदर पाकर भी निरहंकार भाव, सभी जीवों के प्रति असीम दया – थोड़ा-सा देख सका था। उनकी दिव्य अवस्थाओं को देखते-देखते प्रबल श्रद्धा ने अपने आप ही मेरे हृदय पर अधिकार जमा लिया था। इसी के फलस्वरूप मैं पूरे हृदय से उनके अभय-पद-कमलों में सिर रखकर लम्बा प्रणाम करने लगा। माँ इस भक्तिपूर्ण लूट का अर्थ जानती थी। स्वयं को सदा उनके चरणों में लगाये रखना – यही तो सम्यक् न्यास है। क्या इसीलिए उनमें दया उपजी? माँ ने समझा दिया है कि शरणागत हुए बिना, आत्मसर्मपण किये बिना – तत्त्वज्ञान, अवतार-तत्त्व या ब्रह्मतत्त्व की धारणा नहीं हो सकती। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (८)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता

आज शनिवार, २५ दिसम्बर, १९१५ ई., बड़ा दिन है। कलकत्ते से सुप्रसिद्ध साहित्यकार खिरोदप्रसाद विद्याविनोद, दुर्गापद मित्र, पुलिन बाबू तथा अन्य अनेक भक्त आये हैं। खिरोद बाबू विज्ञान के भूतपूर्व प्राध्यापक हैं, उन्होंने 'भीष्म', 'नर-नारायण', 'उलूपी' आदि ग्रन्थ लिखे हैं। ये श्रीरामकृष्ण -विवेकानन्द के परम अनुरागी हैं। पुलिनबाबू अच्छा गाते है।

गंगा के सम्मुख स्थित मठ-भवन के नीचले बरामदे में बड़े बेंच पर खिरोद बाबू और उनके सामने के छोटे बेंच पर दुर्गापद बाबू तथा एक अन्य भक्त बैठे हुए हैं। निकट के बेंच पर और भी कई साधु तथा भक्त आसीन हैं। १९१५ ई. में यूरोप विश्वयुद्ध की अग्नि में जल रहा था। खिरोद बाबू तथा पुलिन बाबू युद्ध के विषय में ही चर्चा कर रहे हैं। कह रहे हैं कि जर्मन लोगों ने विज्ञान में कितनी उन्नति कर ली है – वे कितने सभ्य तथा उन्नत राष्ट्र हैं, आदि आदि।

अपराह्न के तीन या चार बजे होंगे। इसी बीच बाबूराम महाराज आकर बड़े बेंच पर खिरोद बाबू की ही बगल में बैठ गये और उन लोगों की बातचीत सुनने लगे।

थोड़ी देर बाद बाबूराम महाराज उत्तेजित होकर स्वयं ही कहने लगे, ''क्या वे (जर्मन) लोग सभ्य हैं! क्या उनका भी अनुकरण किया जा सकता है! विज्ञान की उन्नति के द्वारा वे लोग क्या कर रहे हैं! लाखों आदमियों की हत्या कर रहे हैं, खून की नदियाँ बहा रही हैं, कितनी ही नारियाँ विधवा हो रही हैं और कितनी ही माताएँ सन्तानहीन हो रही हैं! अपना आत्मगौरव, अहंकार तथा हठ बनाये रखने के लिए वे लोग लाखों-करोड़ों का प्राणनाश कर रहे हैं। अपार धन खर्च हो रहा है। क्या यही सभ्यता का आदर्श या मापदण्ड है? जो राष्ट्र वैज्ञानिक उपायों से जितने अधिक मनुष्यों की हत्या कर सकेगा, क्या उसी को सर्वाधिक सभ्य माना जायगा? वे लोग क्या धर्म या सत्य के लिए युद्ध कर रहे हैं? या फिर भगवत् -प्राप्ति या जगत् में शान्ति-स्थापना के लिए? यह तो निरी बर्बरता है, पैशाचिकता है!! क्या यही विज्ञान के द्वारा शान्ति की स्थापना है? नहीं, ऐसा कदापि नहीं है?

''यह जो युद्ध छिड़ा हुआ है, क्या इसके बन्द हो जाने पर ही हिसाब चुक जायेगा? राष्ट्रों की अस्थि-मज्जा तक में ईर्ष्या घुसी हुई है। यह क्या जानेवाली है? चार-पाँच पीढ़ियों के बाद भी आपसी ईर्ष्या का यह भाव बना रहेगा।

''जगत् में युद्ध के द्वारा कभी शान्ति नहीं स्थापित हो सकती। शान्ति कैसे हो सकती है, यह एकमात्र ठाकुर ही दिखा गये हैं। इस पर मुझे कट्टर कहिये या चाहे जो कह लीजिए। राम अवतार में उन्होंने युद्ध किया था; कृष्ण अवतार में बाँसुरी और गाय चराने की लाठी हाथ में थी; चैतन्य अवतार में दण्ड-कमण्डलु था; परन्तु इस बार कुछ भी नहीं था, खाली हाथ थे। (ठाकुर की समाधि अवस्था के चित्र की ओर संकेत करते हुए) क्या वे चाहते तो 'मार-काट' के द्वारा अपना अवतारत्व सिद्ध नहीं कर सकते थे? परन्तु वे ऐसा करेंगे ही क्यों? क्या इसके द्वारा शान्ति स्थापित हो सकती है?

''देखिए न, हिन्दुओं के साथ मुसलमानों की कैसी ईर्ष्या है? सात सौ वर्ष हो गये, परन्तु तिस पर भी मौका मिलते ही क्या वे हमें काफिर कहना और घृणा करना छोड़ते हैं? हिन्दू-मुसलमान का यह विरोध-भाव दूर करने के लिए ही इस बार ठाकुर आये थे। निष्ठावान हिन्दू होकर भी उन्होंने इस्लाम-धर्म की दीक्षा लेकर नमाज पढ़ी थी, साधना भी की थी। मालूम है क्यों? इसी विरोध को दूर करने के लिए।

''इसीलिए तो कहता हूँ कि ठाकुर के इस उदार समन्वय-भाव का देश में जितना ही प्रचार होगा, उतना ही देश और जगत् का कल्याण होगा। हमारी राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी महा-कल्याण होगा। क्या आप सोचते हैं कि हम कट्टरता का प्रचार कर रहे हैं? पहले सूक्ष्म और उसके बाद स्थूल जगत्। वे आध्यात्मिक जगत् में – सूक्ष्म के राज्य में इन दो महान् जातियों का मिलन करा गये हैं, विश्वास कीजिए अब स्थूल जगत् में भी एक-न-एक दिन यह प्रगट होगा। उनकी सभी प्रकार की साधनाओं के पीछे एक गूढ़ उद्देश्य था। उनके इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पीछे जो महान् उद्देश्य है, उसे यह अधम, पतित राष्ट्र एक-न-एक दिन समझ लेगा। इसीलिए कहता हूँ कि ठाकुर के भाव का प्रचार क्या संकीर्णता का प्रचार है? जय प्रभु! जय प्रभु!! जय प्रभु!!! नाहं, नाहं, नाहं – तूहू, तूहू, तूहू!

''ठाकुर का भाव भला कितने लोगों को मिला है, कितने लोगों ने उन्हें समझा है? शुरू में हम भी क्या उन्हें समझ सके थे? अहा! यदि वे दया करके न समझाते, तो क्या हम उन्हें पकड़ या समझ पाते! वे समस्त धर्मों के, समस्त भावों की सघन मूर्ति थे, उनके भाव का प्रचार करने से क्या

संकीर्णता का प्रचार होता है?''

खिरोद बाबू तथा दुर्गापद बाबू मौन हैं। सभी लोग निस्तब्ध भाव से उस समय उनके वचनामृत का पान कर रहे थे। थोड़ी देर बाद बाबूराम महाराज फिर कहने लगे, ''एक दिन कुमिल्ला से एक मुसलमान भक्त ने यहाँ आकर कहा, 'मुझे ठाकुर का आदेश मिला है, उन्होंने स्वप्न देकर बेलूड़ मठ में जाकर उनका दर्शन तथा प्रसाद ग्रहण करने का आदेश दिया है।' वह एक हिन्दू को अपने यहाँ से साथ लाया था कि कहीं हम लोग उसे मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति न दें। श्रीजगन्नाथ अन्य धर्मावलम्बियों को दर्शन देने के लिए सिंह-द्वार के पास पतित-पावन हुए थे, परन्तु हमारे ठाकुर चाहे कोई हिन्दू हो, मुसलमान हो, या ईसाई – सभी को बिल्कुल गोद में ही उठा ले रहे हैं। उस मुसलमान भक्त ने मन्दिर में जाकर गदगद चित्त से ठाकुर को साष्टांग प्रणाम किया। उनका प्रसाद लेकर उसने गंगा के किनारे बैठकर खाया और खूब आनन्द व्यक्त करने लगा।

''उस दिन एक ईसाई भी आकर बोले, 'हमारे धर्म में सब सामाजिकता मात्र है। यदि आप दया करके हमें स्वामीजी के धर्म में स्वीकार कर लें, तो कितना अच्छा हो।' कई दिनों तक उसने एक साथ बैठकर प्रसाद ग्रहण किया। ठाकुर कहा करते थे – भक्तों की जाति नहीं होती।

''जो लोग ऋषि-प्रतिष्ठित सनातन हिन्दू सभ्यता का अनादर करते हैं, हिन्दुओं के हिन्दुत्व में गौरवबोध नहीं करते, भोग-सर्वस्व पाश्चात्य जातियों के बाहरी चकाचौंध पर मुग्ध होकर उनकी नकल करते हैं, उन्हें मैं देख तक नहीं सकता; उनकी चौदह पीढ़ियों तक कुछ नहीं होगा। यूरोप की देखादेखी हमारे भद्र लोगों के लड़के भी आतंकवादी हो रहे हैं, कहते हैं कि इसी से देश का उद्धार करेंगे ! उनकी भी कैसी बुद्धि है ! ठाकुर-स्वामीजी त्रिकालज्ञ थे; भूत-भविष्य – सब स्पष्ट देख पाते थे। इसीलिए वे कहते – धर्मोन्माद से कुछ भी नही होता। धीर-स्थिर भाव से देशसेवा का व्रत लेकर धर्म को जगाना होगा। धर्म ही भारत का प्राण है। यह प्राण तेजस्वी रहे, तो बाकी सब अनायास ही हो जायगा।

''आर्यसमाजियों ने एक दिन स्वामीजी को निमंत्रित करके उनकी खूब खातिर की थी। स्वामीजी ने उन लोगों से कहा, 'धर्मोन्माद के द्वारा कुछ भी नहीं होता। मेरे गुरुभ्रातागण मुझसे ठाकुर का प्रचार करने को कितना कहते थे, परन्तु मैं उनकी बातें न सुनकर धीर-स्थिर भाव से चल रहा हूँ।'

''स्वामीजी के विदेश से लौटकर आलमबाजार मठ में आने पर शशि महाराज ने उनसे पूछा, 'स्वामीजी, अच्छा धर्म -प्रचारक कैसे हुआ जा सकता है?' स्वामीजी ने सिर से उपस्थ तक एक-एककर दिखाया। सर्वप्रथम सिर पर हाथ रखकर बोले – 'मेधा हो'; द्वितीयत: मुख पर हाथ रखकर बोले – 'अच्छा व्यक्तित्व हो'; तृतीयत: गले पर हाथ रखकर बोले – 'सुकण्ठ हो'; फिर सीने पर हाथ रखकर बोले – 'उच्च हृदय हो'; फिर पेट पर हाथ रखकर बोले – 'आहार अल्प हो'; और अन्त में उपस्थ की ओर संकेत करते हुए बोले – 'ब्रह्मचर्य हो'। ये कई चीजें एकत्र होने से अच्छा धर्म-प्रचारक हुआ जा सकता है।

''आजकल के लोगों को देखता हूँ, केवल यूरोपीय लोगों की नकल कर रहे हैं। नृयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ – इन पाँच तरह के यज्ञों का विधान है, गृहस्थगण क्या इन्हें करते हैं? यह सब तो भूल ही चुके हैं। पाश्चात्य लोगों का अनुकरण करने से न तो वे अच्छे भोगी हो पाते हैं और न त्यागी ही। छी, छी, ऐसे ही जीवन को बरबाद किये जा रहे हैं।'' इतना कहने के बाद वे गाने लगे – (भावार्थ) – ''रे मन ! तू खेती करना नहीं जानता ! ऐसी मनुष्य-देह-रूपी जमीन परती पड़ी रह गयी ! यदि तुम खेती करते, तो इसमें सोना फल सकता था। पहले तुम काली-नाम का घेरा लगा लो, इससे फसल नष्ट न होगी। ... फिर गुरु का दिया हुआ बीज बोकर भक्ति के जल से सिंचाई कर दो।...''

इस विज्ञान के युग में ठाकुर निरक्षर होकर आये और दिखाया कि केवल विद्वत्ता के द्वारा धर्म नहीं होता, धर्म को व्यावहारिक जीवन में रूपायित होना चाहिए। ठाकुर पवित्रता की सघन मूर्ति थे और पवित्रता ही धर्म है।''

कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम. एस. सी. का एक छात्र कभी-कभी मठ आता है। अभिभावक उसका विवाह कराने की चेष्टा में लगे हैं। वह छात्र भी महाराज के सामने छोटे बेंच पर बैठा आग्रहपूर्वक उनकी वाणी सुन रहा है। बाबूराम महाराज की स्नेहदृष्टि उस युवक की ओर उन्मुख हुई। उसके साथ दो-एक बातें करने के बाद वे पुन: कहने लगे –

''एक दिन ठाकुर बलराम बाबू के घर गये हुए थे। नीचे के जिस कमरे में आजकल शान्तिराम का लड़का – भगवान पढ़ता-लिखता है, उसी में उन दिनों एक बालिका विद्यालय चलता था। दुमंजले पर ठाकुर के शौच होकर आने पर मैं उनके हाथ पर पानी ढाल रहा था। नीचे एक छोटी-सी बालिका अपने आँचल में बँधे चाबी के गुच्छे को आँचल का छोर पकड़कर गोल-गोल घुमा रही थी। ठाकुर उस बालिका को दिखाते हुए मुझसे बोले, 'देख, लड़कियाँ इसी प्रकार पुरुषों को बाँधकर गोल-गोल घुमाती हैं ! तू भी क्या उनके हाथों में इसी प्रकार घूमना चाहता है?'

''पहले मंत्र सीखने के बाद फिर साँप पकड़ना चाहिए। चरित्र-गठन किये बिना, भगवद्भक्ति प्राप्त किये बिना, विवाह कर लेने से व्यक्ति महा-संकट में पड़ता है। बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। (उसी छात्र से) पहले चरित्र-निर्माण कर लो, उस के बाद विवाह या जो उचित लगे, करना।'' ❖ **(क्रमश:)** ❖

स्वामी आत्मानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

७ मई १९०३ को वे रामकृष्ण मठ के एक ट्रस्टी तथा रामकृष्ण की कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य मनोनीत हुए। १९०४ ई. में स्वामी रामकृष्णानन्दजी की इच्छानुसार उन्हें कर्मी के रूप में मद्रास-मठ भेजा गया। सम्भवत: इसी समय से उनका बृहत्तर कर्मक्षेत्र में पदार्पण हुआ।

उन दिनों बैंगलोर में स्वामी रामकृष्णानन्दजी के परिश्रम, प्रचार तथा प्रभाव से काफी लोग श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की ओर आकृष्ट हो रहे थे और उन लोगों के प्रयास से वहाँ एक आश्रम भी स्थापित हुआ था। परन्तु रामकृष्णानन्दजी के लिये अकेले ही मद्रास तथा बैंगलोर – दोनों स्थानों का कार्य चला पाना कठिन था। जिज्ञासु भक्तों की संख्या में लगातार वृद्धि होते रहने के कारण, उनके लिये एक सहकारी के बिना नियमित रूप से शास्त्र की कक्षाएँ लेना तथा साधना-विषयक उपदेश दे पाना भी असम्भव हो रहा था। अन्तत: उन्होंने बैंगलोर आश्रम का पूरा भार आत्मानन्द को ही सौंप दिया। इस नवीन आश्रम का संचालन – उसके बहुविध संगठन-मूलक कार्य और उसे केन्द्र बनाकर श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावादर्श का प्रचार करना उनके कर्मजीवन का एक उल्लेखनीय अध्याय हो गया। बैंगलोर आश्रम की स्थापना के मूल में आत्मानन्द के समान त्यागी, शास्त्रज्ञ तथा कर्मयोगी की साधना निहित होने के कारण ही आज उसकी रामकृष्ण संघ के एक विशिष्ट केन्द्र के रूप में गणना होती है।

स्वामी विमलानन्द तथा स्वामी बोधानन्द ने भी कुछ काल तक वहाँ उनके सहयोगी के रूप में कार्य किया था। बैंगलोर के पुराने भक्त काफी काल तक उन्हें अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्मरण किया करते थे। यह श्रद्धा उनकी वाक्पटुता या प्रचार-कुशलता के कारण नहीं; अपितु उनके साधु-चरित, माधुर्यमय व्यक्तित्व तथा भगवन्निष्ठ जीवनचर्या ही इसका कारण है। आत्मानन्द की वाणी ओजस्विनी थी, तथापि वे व्याख्यान आदि कम ही दिया करते थे। यद्यपि उनके व्याख्यानों की संख्या अति अल्प है, विचारशीलता की दृष्टि से वे उद्दीपना से परिपूर्ण हैं। उनके कुछ अंग्रेजी व्याख्यान उन दिनों 'प्रबुद्ध-भारत' तथा 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। उनके वे सारे निबन्ध यदि कभी संकलित होकर पुनर्मुद्रित हों, तो वे नि:सन्देह धर्म-जिज्ञासुओं के लिये परम उपयोगी सिद्ध होंगे। स्वामी सारदानन्दजी का विशेष आग्रह था कि आत्मानन्द को वेदान्त-प्रचार हेतु अमेरिका भेजा जाय और उन्होंने बैंगलोर में उन्हें तार भेजकर इस प्रस्ताव से अवगत भी कराया था। परन्तु उनके विदेश जाने को राजी न होने के कारण वह प्रस्ताव कार्य रूप में परिणत नहीं हो सका था।

अस्तु, लगभग छह वर्षों के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप आत्मानन्द का स्वास्थ्य बिगड़ गया। आखिरकार १९०९ ई. में उन्होंने बैंगलोर के कार्य से अवकाश ग्रहण किया।

१९१० ई. के उत्तरार्ध में आत्मानन्द के जीवन का एक परम सौभाग्य उपस्थित हुआ। श्रीमाँ सारदा देवी तीर्थ-दर्शन हेतु दक्षिणी भारत आयी हुई थीं। रामेश्वरम् जाकर शिवजी का दर्शन करना ही माँ का मुख्य उद्देश्य था। स्वामी रामकृष्णानन्दजी की व्यवस्था के अनुसार उन्हें भी माँ के साथ रामेश्वर-दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ था। अपनी आराध्य देवी का पुण्य सान्निध्य प्राप्त करना, मातृभक्त आत्मानन्द के लिये तीर्थ-यात्रा से अधिक स्पृहणीय बात थी। अपने दक्षिणी भारत के भ्रमण के दौरान माताजी ने सात दिन बैंगलोर में भी निवास किया था। तीर्थयात्रा पूरी हो जाने के बाद माँ मद्रास होते हुए पुरी आयीं और वहाँ कुछ दिन विश्राम करने के बाद कलकत्ते लौटकर बेलूड़ मठ आयीं। आत्मानन्द भी माँ के साथ मठ लौट आये थे। इस तीर्थयात्रा की स्मृतियाँ उनके हृदय-प्रकोष्ठ में सदा के लिये संरक्षित हो गयी थीं। माँ की प्रिय सन्तान शुकुल की मातृभक्ति हृदय में अनुभव करने की चीज है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनके परवर्ती जीवन की एक मर्मस्पर्शी घटना यहाँ स्मरणीय है –

उन दिनों वे ढाका मठ के अध्यक्ष थे। श्रीमाँ तब तक अपनी लीला का संवरण कर चुकी थीं। माँ की पवित्र अस्थियों का कुछ भाग ढाका-मठ में नित्य-पूजा हेतु भेजा जा रहा था। उस दिन दोपहर बीता जा रहा है, परन्तु तब तक पवित्र अस्थियाँ पहुँची नहीं थीं। मातृभक्त आत्मानन्द एक शिशु के समान माँ के आगमन की प्रतीक्षा में बारम्बार बाहर-भीतर आना-जाना कर रहे थे। उस दिन उनके चेहरे पर क्या ही भाव था! मुख-नेत्रों से मानो दिव्य ज्योति बिखरी जा रही थी। वे मानो आवेश में, किसी असीम आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति में, बिना खाये – उपवास किये बैठे थे। उन्हें इस अवस्था में देखकर एक अज्ञात अपरिचित व्यक्ति के भी मन में आया था, "अहा, लगता है कि माँ से बिछुड़ा हुआ शिशु

लम्बे अर्से के बाद एक बार फिर अपनी माँ पानेवाला है !'' उन्होंने आश्रम के भण्डार में निर्देश दे दिया था कि माँ के लिये पहले से भात पकाकर न रखा जाय। हण्डी में पानी उबलता रहेगा और माँ के आश्रम पहुँच जाने के बाद उसमें चावल डाला जायेगा। स्नेहशील सन्तान ने इसलिये ऐसी व्यवस्था की थी, ताकि थकान-भरी यात्रा पूरी करके माँ के आते ही उन्हें गरम-गरम भोजन परोसा जा सके। सभी लोग जानते थे कि उनके साथ पवित्र भस्म तथा अस्थियाँ आ रही हैं, परन्तु आत्मानन्द माँ के साक्षात् आगमन की बात पर ही रोमांचित हो रहे थे। पवित्र अस्थियों का पात्र जब सचमुच ही मठ-भवन में लाया गया, तब आत्मानन्द का अश्रुपूर्ण रक्तिम मुख-मण्डल देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोगों को ऐसा बोध हुआ कि माँ आज से सदा-सर्वदा के लिये आश्रम में प्रतिष्ठित हुई हैं। उस दिन जो लोग इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी थे, वे लोग निःसन्देह परम भाग्यवान थे।

एक बार उन्होंने भुवनेश्वर में चातुर्मास[१] का काल बिताया था। तब भी वहाँ मठ की स्थापना नहीं हुई थी। उन दिनों वे प्रसन्न बाबू नामक एक भक्त के मकान से लगे उद्यान में बनी पर्णकुटीर में रहकर तपस्या में निरत थे। एक अन्य साधु भी उनके साथ रहकर उनकी देखभाल किया करते थे। इन दिनों उनकी कठोर साधना तथा ध्यान-तन्मयता को देखकर उनके सेवक साधु अत्यन्त विस्मित हो जाते थे। एक दिन एक विषैला साँप उनकी कुटिया में घुस गया। सेवक उसे देखकर विचलित हो उठे। इधर सेवक – ''साँप आ रहा है, साँप आ रहा है'' – कहकर चिल्ला रहे थे, परन्तु आत्मानन्द अपने आसन पर जैसे निश्चल बैठे थे, वैसे ही बैठे रहे।[२] ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, जिनसे समझा जा सकता है कि आत्मानन्द की ध्यान-परायणता कितनी गहरी थी। भुवनेश्वर की ही एक अन्य दिन की बात स्मरण करने से उनकी मातृभक्ति का एक अन्य मधुर चित्र हमारे मनश्चक्षुओं के समक्ष तैर जाता है। एक बार महाष्टमी की गहरी रात के समय मातृभक्त संन्यासी सन्तान अपने हाथ से तैयार की हुई खीर की कटोरी को श्रीमाँ के चित्र के सम्मुख रखकर शिशु के समान रो रहे थे – दोनों गालों से होकर आँसुओं की धार बही चली जा रही थी और वे कह रहे थे, ''माँ, तुमने मुझे संन्यासी बनाया है। क्या देकर मैं तुम्हारी पूजा करूँ?'' माँ के साथ सन्तान का ऐसा आन्तरिकतापूर्ण वार्तालाप यदि अनजाने ही किसी के कान में पड़ जाता, तो उसके हृदय में भी भक्ति की तरंगें उठने लगतीं।

१. चातुर्मास – भ्रमण करनेवाले साधु-सन्त बरसात के चार महीने प्रायः किसी एक स्थान में बिताया करते हैं।

२. बँगला मासिक 'उद्बोधन' के अग्रहायण (१३३०) अंक में स्वामी करुणानन्द द्वारा लिखित ''ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द'' लेख।

श्रीमाँ की करुणा तथा आशीर्वाद उनके इन प्रिय सन्तान के आध्यात्मिक जीवन में कितनी प्रतिध्वनित हुआ करती, इसे साधारण लेखनी के द्वारा व्यक्त कर पाना असम्भव है। तथापि दो-एक घटना का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। एक बार आत्मानन्द ने अपने अन्तरंग बाल-सखा तथा गुरुभ्राता स्वामी शुद्धानन्द को बातचीत के दौरान अपने मुख से एक दिव्य स्वप्न का वृत्तान्त सुनाया था। समाधि के आनन्द के विषय में चर्चा चल रही थी। तभी आत्मानन्द ने बताया कि एक अद्भुत सुस्वप्न के समय उन्हें उसी तरह के आनन्द की अनुभूति हुई थी; और आनन्द की उसी स्मृति ने उन्हें अध्यात्म-पथ में काफी प्रेरणा तथा उद्दीपना प्रदान की थी। एक दिन तन्द्रा के समय उन्होंने अनुभव किया कि मानो वे एक शिशु के समान निश्चिन्त तथा निर्भय होकर श्रीमाँ की गोद में बैठे हुए उत्ताल तरंगों से क्षुब्ध अनन्त समुद्र के ऊपर से बहे चले जा रहे हैं। तरंगों का प्रचण्ड वेग भी माँ की गोद में आसीन शिशु शुकुल को जरा भी विचलित नहीं कर पा रहा था – वह एक अवर्णनीय आनन्द में विभोर था। देखते-ही-देखते आत्मानन्द की बाह्य चेतना बिल्कुल ही लुप्त हो गयी थी। इसी प्रकार काफी समय बीत गया था। क्रमशः उन्हें पुनः स्पष्ट रूप से अनुभव होने लगा कि वे स्नेहमयी माँ की गोद में नाचनेवाले एक चंचल शिशु मात्र हैं।[३]

बेलूड़ मठ में आत्मानन्द की दिनचर्या नवीन साधु-ब्रह्मचारियों के लिये आदर्श-स्वरूप थी। वरिष्ठ संन्यासियों की भी उन पर असीम आस्था थी। एक दिन कुछ नवागत युवा ब्रह्मचारी बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें कर रहे थे, उसी समय स्वामी प्रेमानन्दजी वहाँ आये और उन लोगों को स्नेहपूर्वक झिड़की देते हुए बोले, ''तुम लोग जब मठ में आये हो, तो शुकुल महाराज के साथ उठना-बैठना और बातचीत करो। उनसे त्याग-तपस्या सीखो। इससे तुम लोगों का कल्याण होगा। समय को व्यर्थ ही नष्ट मत करो।'' एक बार स्वामी प्रेमानन्दजी की मठ से अनुपस्थिति के कारण आत्मानन्द के ऊपर ही मठ के सामान्य व्यवस्थापन का भार दिया गया था। साधु-जीवन के लक्ष्य तथा उसकी रीति-नीति के विषय में वे इतने सावधान थे कि इस विषय में किसी की छोटी-सी भूल-त्रुटि भी उनकी दृष्टि से बच नहीं पाती थी।

३. स्वामी शुद्धानन्दजी के पत्र में है – "One day he narrated to me a dream that he had seen (perhaps some years ago): He was floating, as it were, on the surface of an ocean lying in the lap of the Divine Mother. At last he felt an unspeakable bliss – as if torrents of bliss were gushing up everywhere – and he lost all outward consciousness. As he came back to his senses after a long time he found himself to be a little child, dancing in the arms of the Mother." – Prabuddha Bharata, Nov. 1923

एक बार किसी ने कुछ भक्त-महिलाओं को मठ के भीतर ले जाकर साधुओं के आवास-भवन के भीतर बैठा दिया। इस पर शुकुल महाराज ने खूब नाराजगी व्यक्त करते हुए कहा था, "तुमने आज अत्यन्त गर्हित कार्य किया है; मठ का एक नियम तोड़ दिया है।" साधुओं के निवास-गृह में महिलाओं का आना-जाना संन्यासियों के मठ में रीति-विरुद्ध है।

मठ में ठाकुरजी की पूजा की तरफ उनका बड़ा ध्यान रहता था। ठाकुर की नित्य-पूजा का कार्य उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ स्वयं ही काफी लम्बे समय तक किया था। उनकी भावोद्दीपक सेवा-पूजा अन्य लोगों के मन में आवेग का संचार करती थी। स्वामी प्रेमानन्दजी ने स्वयं ही उन्हें पूजा आदि की शिक्षा दी थी और उन्हें पुजारी के आसन पर बैठाया था। भक्तिपूत आत्मानन्द की कुशल ठाकुर-सेवा देखकर यदि कोई उनकी प्रशंसा करता, तो वे तत्काल कह उठते, "मैं भला ठाकुर की क्या पूजा करूँगा? ठाकुर के पार्षद ने ही मेरा हाथ पकड़कर मुझे पूजा में बैठा दिया। इसीलिये कर रहा हूँ। ठाकुर की पूजा करना बड़ा ही कठिन है।" उनके नेत्रों के समक्ष ठाकुर का चित्र या विग्रह कितना प्रत्यक्ष हो जाता था, उनकी भावदृष्टि कितनी दूरव्यापी थी – इसके उदाहरण के रूप में बताया जा सकता है कि जो साधु या ब्रह्मचारी बेलूड़ मठ में ठाकुर की पूजा करते थे, वे उन्हें अपने चरणों में हाथ लगाकर प्रणाम नहीं करने देते थे। किसी के उस प्रकार प्रणाम करने की इच्छा व्यक्त करने पर आत्मानन्द कहते, "तुम लोग कितने भाग्यवान हो कि तुम्हें ठाकुर की सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ है। जिन हाथों से तुम साक्षात् भगवान की सेवा-पूजा करते हो, उन हाथों को क्या मनुष्य के चरणों में लगाया जा सकता है? नहीं, नहीं, ऐसा कदापि उचित नहीं है।" फिर उनसे प्राय: ही यह भी कहते सुना जाता, "श्री ठाकुर, माँ और स्वामीजी – ये ही भगवान हैं। इनके समक्ष कातर भाव से प्रार्थना करना।" मठ में विशेष पूजा आदि के समय उन्हें पुजारी तथा स्वामी शुद्धानन्द को तंत्रधारक के रूप में देखने का सौभाग्य अनेक लोगों को मिला है। इनका निरभिमान साधु-जीवन तथा विनयपूर्ण आचरण विशेष ध्यान देने की चीजें हैं। इस पूजा के प्रसंग में ही उनका उत्कृष्ट उदाहरण स्मरणीय है – जहाँ स्वामी शुद्धानन्द तंत्रधारक हों और जहाँ स्वामी आत्मानन्द पुजारी हों, ऐसे दुर्लभ संयोग के विषय में भी रसिक आत्मानन्द कहते, "हम लोग भी भला क्या पूजा करेंगे? पुजारी लंगड़ा है और तंत्रधारक अन्धा। जब शशी महाराज या बाबूराम महाराज पूजा करते थे, तब पूजा कैसी जमती थी! जो लोग देखते, उनकी भी भक्ति बढ़ जाती। अहा, ऐसी पूजा देख पाने से भी व्यक्ति का कल्याण होता है।"

उनके वाक्य तथा आचरण से श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के प्रति कितनी गम्भीर श्रद्धा व्यक्त हो उठती थी! उन लोगों के विषय में वे संघ के नवागन्तुकों से कहते, "वे लोग ठाकुर के अंग-प्रत्यंग-स्वरूप हैं।"

स्वामीजी की ग्रन्थावली का नित्य नियमित रूप से पाठ तथा उस पर चर्चा करना आत्मानन्द का अतिप्रिय अभ्यास था। वे जहाँ कहीं भी रहते, उनके इस अभ्यास का व्यतिक्रम शायद ही कहीं देखने को मिलता। स्वामीजी के ग्रन्थों का पाठ उनकी दृष्टि में शास्त्र-चर्चा के समतुल्य था और कहते हैं कि उन्होंने स्वामीजी की सम्पूर्ण ग्रन्थावली का चौबीस बार पाठ किया था। उनके लिये इस पाठ का अर्थ केवल पढ़ना मात्र ही नहीं था, बल्कि वे स्वामीजी की प्रत्येक उक्ति को मंत्र मानकर उन पर गम्भीरतापूर्वक मनन करते हुए दिन-पर-दिन ध्यान किया करते थे। अपने बेलूड़ मठ में निवास के दौरान, वे वहाँ साधु-ब्रह्मचारियों के लिये स्वामीजी की ग्रन्थावली का अध्यापन किया करते थे। जिस किसी ने उनके मुख से स्वामीजी की मूल रचनाओं आदि का पाठ सुना है, वे ही इस बात का साक्ष्य दे सकते हैं कि वह कितना ओजस्वी तथा शक्तिप्रद हुआ करता था। आत्मानन्द का अंग्रेजी उच्चारण तथा स्पष्ट पाठ एक अद्भुत आकर्षण की वस्तु थी। वे अनेक लोगों को विशुद्ध पाठ-विधि की भी शिक्षा दिया करते थे। स्वामीजी के व्याख्यानों तथा रचनाओं के विषय में वे कहते, "ये शिव-वाक्य हैं; इनमें से एक भी गलत नहीं हो सकता। वे जो कुछ भी कह गये हैं, वह सब सत्य है – भविष्य में सब सत्य होगा ही। स्वामीजी ने एक भी निरर्थक वाक्य का उपयोग नहीं किया है। उनकी उक्तियों में से एक साधारण-सा अर्धविराम भी नहीं हटाया जा सकता।" स्वामीजी के विचार उनके लिये कितने प्रिय तथा कितनी साधना के विषय थे, यह उनकी एक दिन की एक उक्ति का स्मरण करने से तत्काल समझ में आ जाती है। उस दिन उन्होंने किसी से कहा था, "कई लोग अपनी बहादुरी दिखाते हुए कहते हैं कि 'स्वामीजी की अमुक पुस्तक मैंने एक दिन में पढ़कर समाप्त कर दी है।' परन्तु मैं तो स्वामीजी के ग्रन्थों के किसी-किसी अंश का तीन दिनों तक ध्यान किया करता था। इससे उनकी उक्तियों के वास्तविक अर्थ की उपलब्धि हुआ करती थी। एक साँस में उनकी पुस्तक पढ़ जाने से भला कोई क्या समझेगा?" फिर नाराजगी के साथ उन्होंने ऐसा भी मत प्रगट किया था, "शास्त्र-वाक्य या ठाकुर-स्वामीजी की उक्तियाँ सामान्यत: अति सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय जगत् के विषय हैं – ध्यान तथा अनुभूति के विषय हैं। अटकल मात्र लगाने के विषय नहीं हैं।"

❖ (क्रमश:) ❖

सर्वमंगला की कथा

महात्मा रामचन्द्र दत्त

भगवान अन्तर्यामी हैं। किसके मन में क्या इच्छा है, वे जानते हैं। किसको किस रूप में दर्शन देना है या नहीं देना है – यह वे ही जानते हैं। भक्तगण उन्हें पाना चाहते हैं, उनकी सेवा करना चाहते हैं, अत: यदि वे भक्तों का मनोरथ पूरा न करें, तो फिर कौन करेगा।

ठाकुर श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि भाव ही असल बात है। जिसका जैसा भाव होता है, उसको वैसी ही वस्तु-प्राप्ति भी होती है। बाहर एक और भीतर दूसरा भाव हो, तो ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती। बाह्य भाव का उद्देश्य है लोगों का मनोरंजन, वह इच्छा तो पूरी होती है; परन्तु भगवान के साथ सम्बन्ध तो आन्तरिक होता है। वह भाव यदि वास्तविक हो, यदि विशुद्ध हो, यदि सच्चे विश्वास के फलस्वरूप हो, तो उस व्यक्ति की कामना की पूर्ति में कभी कोई बाधा-विघ्न नहीं आ सकती।

किसी स्थान पर एक निर्धन ब्राह्मण का निवास था। उसके परिवार में उसकी धर्मपत्नी तथा सर्वमंगला नाम की एक रूपवती कन्या थी। कन्या के रूप-गुण को देख सभी लोग मुग्ध रह जाते। उस गाँव के जमींदार ने कन्या का रूप-गुण सुनने के बाद उसे अपनी पुत्रवधू बना लिया था। विवाह के बाद जमींदार सर्वमंगला को उसके मायके नहीं जाने देते थे। यद्यपि कोई विशेष कारण होने पर पिता उसे घर ले आते थे, परन्तु ऐसे समय जमींदार उसके साथ पाँच सिपाही और दस सेविकाएँ भेज देते और पुत्रवधू के भोजन के लिये पकानेवाली के हाथों तरह-तरह की खाद्य-सामग्री भी भेज देते। सर्वमंगला की सास अपने सिर की सौगन्ध लेकर कहती – देखो बेटी, तुम अपनी माँ के यहाँ कुछ भी मत खाना। वहाँ की चीजें तुम्हारे पेट में सहन नहीं होंगी। इसलिये यद्यपि सर्वमंगला अपने माता-पिता के पास आती, परन्तु न तो कुछ खा पाती और न ही जी खोलकर दो-चार बातें कर पाती। थोड़ा बैठते-न-बैठते ही उसकी सेविकाएँ उससे लौट चलने का अनुरोध करने लगतीं। सर्वमंगला ने नाराज होकर अपनी माँ से कहा, "माँ, अब मुझे लाने के लिये मत भेजना। मैं समाचार भेजती रहूँगी कि कुशल से हूँ और पिताजी को भी अब मत भेजना।" सर्वमंगला का पितृगृह आना बन्द हो गया।

सर्वमंगला के पिता यद्यपि एक निर्धन ब्राह्मण थे, तथापि उनके समान भक्तिमान व्यक्ति मिलना अत्यन्त दुर्लभ था। वे वात्सल्य-रस के मानो अवतार ही थे। मानो पार्वती ही पृथ्वी पर लीला करने के लिये ब्राह्मण-कन्या के रूप में निवास कर रही थीं। ब्राह्मण पहले दशभुजा दुर्गा की अपनी पुत्री के रूप में आराधना किया करते थे। बाद में काफी आयु बीत जाने के बाद उस पुत्री का जन्म हुआ था, इसी कारण उन्होंने उसका नाम सर्वमंगला रखा था। सर्वमंगला को पाकर ब्राह्मण ने उमा के रूप में उसका लालन-पालन किया और नौ वर्ष की आयु में विवाह कर दिया। विवाह के बाद पुत्री को सर्वदा देख पाने में असमर्थ होकर वे बड़े दुखी भाव से दिन बिताया करते थे। बीच-बीच में वे उसकी ससुराल जाकर उसे देख आते और छिपाकर कुछ खिला भी आते। तभी सर्वमंगला ने मायके आना बन्द कर दिया और पिता को भी ससुराल आने से मना कर दिया। तभी से ब्राह्मण सर्वदा उसके लिये रोया करते थे। एक दिन उन्होंने स्वप्न में देखा कि दशभुजा देवी स्वयं ही ब्राह्मण के समक्ष प्रकट होकर बोलीं, "पिताजी, मुझे क्यों भूले हुए हो? मैं बहुत दिनों से तुम्हारे पास आयी नहीं ! माँ के हाथ का कुछ खायी नहीं ! बाबा, माँ के हाथ का खाये बिना भी क्या कहीं पेट भरता है? उसके जैसा खिलाना दूसरा कौन जानता है? तुम वचन दो कि तुम मुझे शीघ्र ही लाओगे !"

ब्राह्मण की नींद सहसा टूट गयी। उन्होंने उठकर तत्काल सारी बात ब्राह्मणी से कहा। उन्हें भी असीम आनन्द हुआ, परन्तु उन्हें चिन्ता हुई कि दशभुजा की पूजा कैसे सम्पन्न हो सकेगी ! ब्राह्मण बोले, "देखो, हम लोगों की सामर्थ्य और असामर्थ्य की तो कोई बात ही नहीं है। हम लोग तो कोई माँ को लाना नहीं चाहते थे; उन्होंने स्वयं ही आने की इच्छा प्रकट की है। यदि स्वप्न सत्य हो, तो उनका आना भी सत्य होगा और इस निर्धनावस्था के बावजूद हम लोग उनकी पूजा अवश्य सम्पन्न कर सकेंगे।" क्रमश: दुर्गापूजा का समय आ पहुँचा। ब्राह्मण को समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय। ब्राह्मणी के याद दिलाने पर वे कहते कि माँ की यदि इच्छा है, तो वे स्वयं व्यवस्था भी करेंगी। उसी रात उन्होंने पुन: ब्राह्मण को स्वप्न देकर कहा, "अब दिन अधिक नहीं बचे हैं। तुम प्रतीक्षा क्यों कर रहे हो? मूर्ति बनवाने की व्यवस्था करो, मैं तभी आ सकूँगी।" ब्राह्मण बोले, "माँ, यह तुम्हारी कैसी विडम्बना है ! मैं एक निर्धन ब्राह्मण हूँ, भला तुम्हारी मूर्ति बनवाकर कैसे पूजा कर सकूँगा?" देवी ने कहा, "तुम्हारे पास जो कुछ है, उसी से हो जायगा।"

ब्राह्मण की नींद टूटने पर उन्होंने ब्राह्मणी से सारी बात कही। सब सुनकर ब्राह्मणी ने व्यंग्य करते हुए कहा, "तुम्हारे पास क्या है, क्या नहीं – यह मैं क्या जानूँ? तुम्हारे पास जरूर कोई गुप्तधन होगा, नहीं तो वे ऐसी बात क्यों कहेंगी?" ब्राह्मण ने दुखी मन से कहा, "तुम्हें मेरी बात पर

विश्वास नहीं है ! वह घड़ा खोलकर देख लो, कितनी सम्पत्ति है !'' ब्राह्मण बीच-बीच में उस घड़े में कुछ पैसे डाल देते थे और जब कभी खर्च के लिये जरूरत पड़ती, उसी में से निकाल भी लेते। ब्राह्मणी ने उस घड़े को पलटा, तो उसमें से बारह रुपये निकले। काफी काल का संचय अब तक बारह रुपये हो गये हैं, यह देखकर ब्राह्मण की खुशी की सीमा न रही। वे उसी दिन सुबह कुम्हार के घर जाकर मूर्ति के निर्माण की व्यवस्था कर आये। कुम्हार ने पहले तो ब्राह्मण को पागल ही समझा, परन्तु उनका विनय-भाव देखकर उसने मुफ्त ही प्रतिमा देने की इच्छा व्यक्त की। उसके कारीगर अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाने में व्यस्त थे, इसलिये कुम्हार ने स्वयं ही ब्राह्मण के लिये मूर्ति बना दी। प्रतिमा का रूप देखकर कुम्हार स्वयं ही रो-रोकर विह्वल हो उठा। उसने अपने जीवन में कभी ऐसी सुन्दर प्रतिमा नहीं गढ़ी थी। कुम्हार की पत्नी ने स्वयं ही उस मूर्ति की पूजा करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु उसकी बात नहीं मानी। उसने अपनी पत्नी को सांत्वना देते हुए कहा, ''ब्राह्मण की भक्ति के कारण ही मूर्ति की ऐसी अपूर्व शोभा हुई है, अत: उसे इससे वंचित नहीं किया जा सकता।''

इसके बाद चतुर्थी के दिन ब्राह्मण ने ताड़ के पत्तों की कुटिया बनवाई और पूजा का सारा आयोजन करने के बाद मूर्ति लाने के लिये कुम्हार के घर गये। ब्राह्मण को देखकर कुम्हार ने उन्हें दण्डवत प्रणाम करते हुए कहा, ''महाराज, आप कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। भूदेव हैं, परन्तु साधारण भूदेव नहीं हैं। महाराज, आप तो वृद्ध हो गये हैं, जरा बताइये तो – क्या आपने कभी इतनी सुन्दर प्रतिमा देखी है? अहा, माँ मानो साक्षात् विराजमान हैं। महाराज, मैं धन्य हो गया, मेरी कुम्हार-वृत्ति धन्य हो गयी। इतने दिनों से मैं माँ की मूर्तियाँ बनाता आ रहा हूँ, परन्तु अब मैं समझ गया हूँ कि इस बार उन्होंने मुझ पर कृपा की है। आपने कुछ मूल्य देने की इच्छा व्यक्त की थी, परन्तु मुझे महा-मूल्यवान वस्तु प्राप्त हो गयी है। आपने मुझे अमूल्य धन प्रदान किया है। यदि आप कुछ देना ही चाहते हों, तो अपनी चरणधूलि देते जाइये और आशीर्वाद दीजिये कि आज मेरे हृदय की जो अवस्था है, वही प्रति क्षण बनी रहे।''

प्रतिमा देखकर ब्राह्मण को स्वप्न की सारी बातें फिर याद हो आयीं – ठीक वैसे ही चरण, ठीक वैसे ही हँसता हुआ मुख-मण्डल – सब कुछ ठीक वैसा ही था। अपने हृदय में उत्थित प्रेम के उच्छ्वास को बड़ी कठिनाई से रोकते हुए, वे उस प्रतिमा को सिर पर रखकर घर ले आये। पर्णकुटीर में प्रतिमा को रखने के बाद उन्होंने ब्राह्मणी को बुलाकर कहा, ''ओ जी, मेरी माँ आ गयी हैं, एक बार आकर देख जाओ।'' इतना कहकर ब्राह्मण मूर्छित होकर गिर पड़े। मूर्छा भंग होने के बाद दोनों मिलकर प्रतिमा का दर्शन करने लगे। इसके बाद ब्राह्मणी ने शंखनाद आदि मांगलिक कार्य सम्पन्न किये और गृहस्थी के कार्य में लग गयीं।

पंचमी के दिन सुबह ब्राह्मण की नींद खुलने पर ब्राह्मणी ने कहा, ''तुम जल्दी जाकर सर्वमंगला को ले आओ। उसके बिना पूजा नहीं होगी।'' यह सुनते ही ब्राह्मण, बिना इसका कारण पूछे, तत्काल जमींदार के घर जा पहुँचे। बैठकखाने में ही उनसे भेंट हो जाने पर ब्राह्मण ने उन्हें नमस्कार करके विनयपूर्वक कहा, ''महाशय, मैं बड़ी समस्या में पड़कर आया हूँ। सर्वमंगला को चार दिनों के लिये भेजना होगा। घर में माँ का आगमन हुआ है। दुर्भाग्यवश ब्राह्मणी कुछ भी छू पाने की स्थिति में नहीं है, अत: सर्वमंगला को भेजकर मुझे चिरकाल के लिये ऋणी बना लीजिये।'' जमींदार ने ऐसा उत्तर दिया कि ब्राह्मण ने चुपचाप अन्त:पुर में जाकर गृह-स्वामिनी से अनुरोध किया। वे धन के गर्व में चूर थीं, दो-चार कड़ी बातें सुनाकर दूसरे कमरे में चली गयीं। ब्राह्मण ने हारकर सर्वमंगला के कमरे में प्रवेश किया और उसके दोनों पाँव पकड़कर बोले, ''माँ, तुम क्यों मेरी पुत्री के रूप में आयी? मेरी पुत्री क्या मेरी नहीं है? दो दिन के लिये दूसरे को दे दिया, तो मेरी सर्वस्व-धन सर्वमंगला क्या परायी हो गयी?''

सर्वमंगला पिता के आँसू पोंछते हुए कहने लगी, ''बाबा, तुम्हें रोते देख मुझे भी रुलाई आती है। बोलो, क्या करूँ? मैं पराधीन हूँ। सास-ससुर की अनुमति के बिना मैं तुम्हारे साथ कैसे जाऊँ? अभी तुम लौट जाओ। मैं सासजी को समझा कर यदि हो सका तो शाम को आऊँगी।'' इस आश्वासन से सन्तुष्ट होकर ब्राह्मण लौट चले। जमींदार का मकान पार करते ही पीछे से सर्वमंगला ने पुकारा, ''बाबा, ठहरो ! मैं आ गयी हूँ।'' ब्राह्मण सर्वमंगला को देख आनन्द से मतवाले हो उठे, पूछा, ''बेटी, तुम कैसे आ गयी?'' सर्वमंगला बोली, ''तुम्हारी बात सुनकर मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा। स्थिर नहीं रह सकी, इसीलिये दौड़कर चली आयी।'' ब्राह्मण ने कहा, ''यदि तेरे ससुर सिपाही भेजकर जबरन तुम्हें उठा ले जायँ, तो मैं तुम्हारी रक्षा कैसे करूँगा?'' सर्वमंगला बोली, ''ससुर की क्या बिसात ! मेरी इच्छा के विरुद्ध वे मुझे कभी ले नहीं जा सकेंगे। मेरी इच्छा इसलिये कह रही हूँ कि इस बार तुम जितने दिन भी चाहोगे, मैं उतने दिन रहूँगी। जिस दिन तुम मुझे चले जाने को कहोगे, उस दिन चली जाऊँगी।'' – ''बेटी, मैं भला कभी तुम्हें – जाओ – कहकर भेजूँगा, ऐसा कभी मत सोचना'' – यह कहकर ब्राह्मण परम आनन्द के साथ सर्वमंगला को साथ लिये माँ की मूर्ति के सम्मुख जा पहुँचे। मूर्ति देखकर सर्वमंगला बोली, ''बाबा, देवी बड़ी सुन्दर बनी हैं।

इसके बाद वह 'माँ-माँ' कहती हुई ब्राह्मणी के पास चली गयी और माँ के पास बैठकर बोली, ''माँ, मुझे बड़ी भूख

लगी है, कुछ खाने को दो।'' ब्राह्मणी ने थोड़ी-सी मिठाई देते हुए बड़े संकोचपूर्वक कहा, ''बेटी, तुम बड़े आदमी की बहू हो, तुम्हारी सास तुम्हें खीर-मिठाई आदि न जाने क्या-क्या खिलाती है। मैं तुम्हारी दीन-दुखी माता हूँ, तुम्हारे लिये वह सब कहाँ से लाऊँगी। बेटी, इसके लिये कुछ बुरा न मानना।'' सर्वमंगला ने दुखी मन से कहा, ''माँ, बहुत दिनों से आयी नहीं, इसीलिये क्या तुम मुझे परायी मान रही हो? नहीं तो फिर ऐसी बात क्यों कहोगी! मैं क्या खाने के लोभ में भूली हुई हूँ। यदि सास मुझे खीर-मलाई दिखाकर भुला पाती, तो मैं पूजा के समय उन्हें छोड़कर चली क्यों आती?''

अस्तु, तीन दिन सर्वमंगला ने ब्राह्मण के सभी कार्यों में भाग लेकर पूजा सम्पन्न कराया। नवमी के दिन वह पिता से बोली, ''बाबा, तुमने बड़ी भक्ति के साथ पूजा की, परन्तु एक भी ब्राह्मण को भोजन नहीं कराया। इससे पूजा पूर्ण नहीं हुई। कहो तो मैं आज जाकर मुहल्ले के सारे ब्राह्मणों को निमंत्रण दे आऊँ।'' ब्राह्मण हँसते हुए बोले, ''देखो ब्राह्मणी, इसका अब भी वैसा ही स्वभाव बना हुआ है।'' इसके बाद वे सर्वमंगला से बोले, ''बेटी, मेरा आयोजन कैसा है, यह तो तुमने देख ही लिया है। इतने में क्या ब्राह्मण-भोजन हो सकता है? लोग मुझे पागल कहेंगे।'' सर्वमंगला के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। वह दौड़कर मुहल्ले के सभी ब्राह्मणों को प्रसाद पाने का निमंत्रण दे आयी। ब्राह्मण ने सोचा कि शायद दो-एक जन को कह आयी होगी। दोपहर के समय दल-के-दल ब्राह्मण आ पहुँचे। निमंत्रित आगन्तुकों को देख ब्राह्मण सर्वमंगला को डाँटने लगे। सर्वमंगला ने सब हँसकर उड़ा दिया। ब्राह्मणों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, ब्राह्मण उतने ही क्रोधित होकर सर्वमंगला को कटु शब्दों में खरी-खोटी सुनाने लगे और अपने सीना तथा सिर पीटते हुए कहने लगे – न जाने किस अशुभ मुहुर्त में मैं सर्वमंगला को लाने गया था! आज लगता है कि सर्वमंगला के कारण ही मेरा सर्वनाश होगा।''

सर्वमंगला पिता को मना करते हुए बोली, ''बाबा, तुम इतने नाराज क्यों होते हो? तुमने मुझे काम के लिये बुलाया है, यह काम मैं स्वयं करूँगी। यदि ब्राह्मण लोग तुम्हें कुछ कहें, तो तुम जो इच्छा मुझे कह लेना। अभी तुम मुझे डाँटना छोड़ो और प्रतिमा के चरणों में बिल्वपत्र चढ़ाकर निश्चिन्त मन से उनका ध्यान करो। तुम्हारा सर्वांगीण कल्याण होगा।'' ब्राह्मण ने वैसा ही किया। सर्वमंगला ने देवी का महाप्रसाद लेकर समस्त ब्राह्मणों को थोड़ा-थोड़ा देते हुए कहा, ''महाशयो, मेरे पिता निर्धन हैं। माँ दया करके उनके यहाँ आयी हैं, आप लोग भी दया करके उनका प्रसाद ग्रहण कीजिये। आप लोगों द्वारा यह महाप्रसाद धारण किये बिना माँ को कभी तृप्ति नहीं मिलेगी। आप कृपया यह नहीं भूलेंगे कि मेरे पिता गरीब हैं।'' सर्वमंगला की अमृतोपम वाणी सुनकर ब्राह्मणों ने प्रसाद खाते हुए मानो अमृत प्राप्त किया। वे सभी कहने लगे, ''ब्राह्मण में सचमुच ही भक्ति है। अहा, हम लोग तो कितने काल से प्रसाद खाते आये हैं, परन्तु ऐसा प्रसाद कभी भाग्य में नहीं जुटा।'' ब्राह्मण लोग सर्वमंगला की वाणी से विशेष सन्तुष्ट होकर अपने भाग्य सराहते हुए घर की ओर प्रस्थान किया। ब्राह्मण के आनन्द की सीमा न रही।

अगले दिन विजया-दशमी थी। ब्राह्मणी ने सुबह स्नान करके विजया का आयोजन किया। उस दिन सर्वमंगला ने कुछ भी नहीं किया। वह चुपचाप जाकर मूर्ति की बगल में बैठ गयी। ब्राह्मण ने विजया का कार्य समाप्त करके ध्यान करते हुए दधिकड़मा का भोग देते हुए आँखें मूंदकर देखा कि सर्वमंगला उसे खा रही है। ब्राह्मण ने अपनी पुत्री का अनाचार देखकर उसका तिरस्कार करते हुए ब्राह्मणी से पुनः दधिकड़मा की व्यवस्था करने को कहा। ब्राह्मणी ने तत्काल वैसा ही किया। सर्वमंगला इस बार भी उसे उसी प्रकार खा लिया। जब तीसरी बार भी सर्वमंगला ने उस भोग को जूठा कर दिया, तो ब्राह्मण ने क्रोधाविष्ट होकर सर्वमंगला को ''दूर हो'' कहते हुए वहाँ से हटा दिया। सर्वमंगला बिना कुछ कहे वहाँ से चली गयी। ब्राह्मणी ने चौथी बार दधिकड़मा लाकर ब्राह्मण से कहा, ''अहा, उसे क्या 'दूर हो' कहना चाहिये था। तुमने सर्वमंगला को 'दूर हो' कहा है, वह मेरे पास जाकर खूब रोने लगी। मैं उसे बहलाकर कमरे में रख आयी हूँ।'' ब्राह्मण ने चौथी बार दधिकड़मा निवेदित किया, परन्तु उन्हें हृदय में तृप्ति नहीं हुई। ब्राह्मण के मन में एक तरह की आशंका प्रगट हुई। वे दधिकड़मा का पात्र अपने हाथ में लेकर सर्वमंगला को पुकारने लगे, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला।

ब्राह्मणी ने चारों ओर खोजकर देखा, सबसे पूछा, परन्तु कोई भी कुछ बता नहीं सका। ब्राह्मण दधिकड़मा का वह पात्र लेकर जमींदार के घर गये। वहाँ सर्वमंगला को देखकर उन्होंने पश्चाताप करते हुए कहा, ''बेटी, मैं तेरा पिता हूँ, बुरा मत मानना। यह ले, जितनी इच्छा हो खा ले।'' सर्वमंगला अवाक होकर पिता के मुख की ओर देखती रही। ब्राह्मण कहने लगे, ''बेटी, मैं तेरा पिता हूँ, अधिक कहने से तेरा अमंगल होगा, तू बुरा मत मानना।'' सर्वमंगला ने पूछा, ''बाबा, तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ समझ नहीं पा रही हूँ। ब्राह्मण ने सारी बातें दुहरायी। सर्वमंगला विस्मित होकर बोली, ''परन्तु बाबा, मैं तो गयी ही नहीं!''

यह सुनते ही ब्राह्मण उन्मत्त के समान बोल उठे, ''क्या कहा? तू गयी ही नहीं? हाय, हाय! मैं इसके पहले समझ कर भी नहीं समझ सका! माँ सर्वमंगला, तुम कहाँ हो? एक बार लौट आओ। मुझे 'बाबा' कहकर पुकारो। माँ, मैंने कैसा सर्वनाश कर लिया! तू स्वयं ही आकर मुझे माया में फँसाकर क्यों चली गयी माँ! तूने कहा था 'जाओ' कहे बिना तू नहीं

काठियावाड़ की एक पुरानी घटना

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी की दो पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' और अनेक संस्मरणों का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी पुनर्लेखन किया था, जिनमें से कुछ बँगला मासिक उद्बोधन में प्रकाशित हुए थे। उन्हीं रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

कई वर्षों की बाढ़ तथा सूखे के बाद उस वर्ष बड़ी अच्छी फसल हुई थी। राजा-प्रजा – सभी लोग और विशेषकर किसान लोग आनन्द से भरपूर थे। दीपावली आने में अब अधिक विलम्ब न था। हल्की-हल्की ठण्ड पड़ने लग गयी थी। खलिहान* में ज्वार, बाजरा आदि की फसल आ गयी थी। किसान लोग खूब व्यस्त थे। सभी अपनी-अपनी फसल की सफाई कर रहे थे और सोच रहे थे कि क्या करेंगे क्या नहीं – किसका देना है, किससे लेना है आदि आदि। उनके स्त्री-पुत्र आदि परिवार के सभी लोग मेहनत कर रहे थे। उनके मनों में भी गहने-कपड़े तथा आनन्द-उत्सव आदि की नई-नई कल्पनाएँ खेल रही थीं। सभी उत्साह से परिपूर्ण थे और अथक परिश्रम में लगे हुए थे। जग्गू पटेल और उसकी पत्नी-पुत्र आदि भी बाजरे की सफाई में लगे थे।

जग्गू पटेल गाँव का एक प्रसिद्ध किसान था। राज दरबार में उनका खूब सुनाम था। अन्य लोगों की तुलना में उसके पास जमीन भी ज्यादा थी और वह मेहनत भी अधिक करता था। इस बार तो उसने केवल बाजरे की खेती की थी और उसकी जमीन में सोना फला था। काम करते-करते बीच में वह थोड़ा-सा तम्बाकू पीकर तरोताजा होने के लिये वह पास ही बैठकर अपनी चिलम सजाने लगा। वैसे उसकी नजर बाजरे के ढेर पर ही थी। वह सोच रहा था, "अहा! ऐसा बाजरा तो अनेक वर्षों से नहीं हुआ। दाने तो बिलकुल मोतियों के जैसे फले हैं।" चिलम से दम मारते हुए उसके मन के एक कोने से विचार-तरंग उठा, "इसके लिये कितना मेहनत भी तो किया है! अब फसल हो या न हो, हर साल समान रूप से मेहनत तो करता ही हूँ। परन्तु (उसके मुख-आँखों पर क्रोध का भाव प्रस्फुटित हो उठा) इसका एक हिस्सा तो राजा ही ले जायेगा। यह तो सरासर अन्याय है! मैं दिन-रात मेहनत करते हुए मरता हूँ, वह सब क्या उसी के लिये करता हूँ। नहीं, नहीं, इस बार नहीं छोड़ूँगा। इसमें से कुछ तो खिसकाउँगा ही। जो भी घर पहुँच जाय, वही अच्छा।" जग्गू ने बाजरे चुराने का निश्चय किया और उसे क्रियान्वित करने का मौका देखने लगा।

एक रात उसे मौका मिल गया। उसने अपनी बैलगाड़ी में खूब ठूस-ठूसकर बाजरे भर लिये और घर की ओर ले चला। (उस दिन खलिहान में पहरा देने की उसी की बारी थी। दूसरा कोई भी वहाँ उपस्थित नहीं था।) तब तक भोर हो चला था, इसीलिये पकड़े जाने के भय से वह खूब तीव्र वेग से गाड़ी हाँकने लगा। परन्तु दुर्भाग्यवश गाँव के पास पहुँच कर गाड़ी एक पत्थर से टकरा गयी और उसका एक चक्का खुलकर बाहर निकल आया। अब क्या किया जाय?

सहायता के लिये अन्य किसी को बुलाने पर सभी लोगों को जग्गू का कारनामा ज्ञात हो जायगा! उसने अकेले ही चक्का लगाने का भरपूर प्रयास किया, परन्तु एक तो गाड़ी ही भारी थी और दूसरे उसमें ठूस-ठूसकर बाजरा भरा हुआ था। वह चक्का लगाने में सफल नहीं हो सका। यह सोचकर भय से काँपने लगा, "अब क्या होगा? अब तो खलिहान लौट जाने का भी कोई उपाय नहीं है। सभी लोग मुझे भला आदमी समझते हैं, राज-दरबार भी मुझे विश्वास-पात्र जानकर सम्मान देता है। हे राम! फिर कभी ऐसा काम नहीं करूँगा। इस बार मेरी लाज बचा लो!"

* खलिहान में गाँव के सभी लोगों की फसल एकत्र की जाती थी। बाद में यथारीति राजा का भाग देने के बाद सभी लोग अपनी-अपनी फसल अपने घर ले जाते थे।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

जायेगी। तभी मैं समझ गया था, पर मेरा भाग्य ही खराब था! गरीब ब्राह्मण के भाग्य में क्या इतना सुख सम्भव है? परन्तु माँ, तू चालाकी से चली गयी। तुम्हें भला कौन पकड़कर रख सकता है? माँ, यदि तू स्वयं ही पकड़ में न आ जाय, तो भला तुम्हें कौन देख सकता है? परन्तु माँ सर्वमंगला, मेरे मन में बड़ा खेद रह गया कि सामान्य से दधिकड़मा के लिये मैंने तुम्हें 'दूर हो' कहकर भगा दिया! इसका खेद दूर नहीं होगा, माँ! तू कैसे दया करके 'बाबा' कहकर आयी थी, वैसे ही एक बार और आ जा! आकर इस दधिकड़मा का भोग लगा जा! तभी मुझे शान्ति मिल सकेगी।" ब्राह्मण ने सुना, अन्तरिक्ष से सर्वमंगला की आवाज आयी, "बाबा, मैंने उसे खा लिया है। तुम निश्चिन्त भाव से मेरा सर्वमंगला के रूप में ध्यान करो, तो तुम्हारा हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जायेगा। इस जन्म में मेरा वह रूप तुम दुबारा नहीं देख सकोगे।" भक्ति से अनहोनी भी घटित होती है। भक्त के लिये भगवान क्या नहीं करते!

❑❑❑

जग्गू ने देखा कि कोई गाँव से बाहर की ओर आ रहा है। पाप का फल लगे-हाथों मिलने वाला है, यह सोचकर जग्गू का कलेजा सूख गया। परन्तु जब वह व्यक्ति निकट पहुँचा, तो जग्गू को लगा कि वह तो कोई अपरिचित पथिक है। उसके हृदय में एक नई आशा की किरण जगी। वह बोल उठा, "ओ भाई, जरा इधर आओ न। यह चक्का लगाने में मेरी थोड़ी-सी सहायता कर दो।"

बिना कुछ कहे वह व्यक्ति सहायता में लग गया। चक्का लग जाने के बाद जग्गू की जान में जान आयी। उसे उस व्यक्ति के प्रति आभार तक व्यक्त करने का होश नहीं आया। वह जल्दी-जल्दी गाड़ी को हाँकते हुए घर को चल पड़ा।

वह व्यक्ति स्वयं गाँव के राजा कुम्भाजी थे। उन्हें भोर में उठकर अँधेरे में ही शौच आदि जाने की आदत थी। थोड़ी ठण्ड पड़ने लगी थी, इसीलिये वे पूरे शरीर पर चादर लपेट कर वे यथानियम शौच के लिये जा रहे थे।

जग्गू उन्हें पहचान नहीं सका। राजा समझ गये कि जग्गू चोरी करके अनाज ले जा रहा है, तो भी बिना कुछ कहे उन्होंने उसकी गाड़ी में चक्का लगाने में सहायता की।

"अहा ! आदमी को लोभ होना तो स्वाभाविक ही है। इतनी मेहनत-मजदूरी करते हैं, तो ऐसा करेंगे ही। ये लोग ही तो मेरी सन्तान हैं, मेरी सम्पत्ति हैं। थोड़ा अधिक भी ले लिया तो क्या ! इनके सुखी रहने में ही मेरा भी सुख है।" – कुम्भाजी के हृदय में ये ही सब भाव प्रवाहित होकर उनके मन में एक स्वर्गिक प्रसन्नता की सृष्टि कर रहे थे। उनका अन्तर करुणा से परिपूर्ण हो उठा। इस घटना का उन्होंने किसी के समक्ष उल्लेख नहीं किया।

* * *

कुछ महीनों बाद किसी विशेष उपलक्ष्य में कुम्भाजी के गढ़ में बहुत-से अतिथि तथा सम्बन्धियों का समागम हो रहा था। गाँव की प्रथा के अनुसार राज-कर्मचारी सभी गृहस्थों के घर से बिछाने के बिस्तर, चादर आदि एकत्र करने निकला था। जब उसने जग्गू के घर जाकर राजा का आदेश बताया, तो जग्गू ने साफ मना कर दिया। राजा के हरकारे ने अपने पट्टे के बल पर आवाज चढ़ाकर कहा – जो भी अच्छे-अच्छे बिस्तर आदि हैं, उन्हें सीधे-सीधे बाहर निकाल दो। यह सुनकर जग्गू के सारे शरीर में मानो आग लग गयी।

"स्वयं तो फटे हुए कन्थे पर सोकर रात निकालते हैं और जो कुछ अच्छा है, वह राज-दरबार को चाहिये ! धिक्कार है ! ऐसे राज्य में न रहना ही अच्छा है" – जग्गू खूब चिढ़कर बोल उठा।

"तो कौन तुम्हें अपने सिर की सौगन्ध देकर यहाँ रहने के लिये कह रहा है? तुम्हें जहाँ अच्छा लगता है, वहीं चले जाओ न" – राज-कर्मचारी ने भी क्रूर डंक मारते हुए कहा।

"ओ सिपाही, जग्गू वह भी कर दिखायेगा। और वह भी कल ही" – जग्गू ने सीना तानकर कहा।

जग्गू ने जो कहा था, वही किया। अगले दिन सबने देखा कि बैलगाड़ी में अपना सारा सामान लादकर जग्गू पटेल गाँव छोड़कर चला जा रहा है।

"राम राम भाई, राम राम" – कहते हुए विदाई का अभिवादन करता हुआ जब वह राजा के गढ़ के सामने पहुँचा, तो जग्गू के सगे-सम्बन्धी और गाँव के बड़े-बूढ़े उसे घेरकर समझाते-बुझाते हुए घर लौट जाने की सलाह देने लगे। परन्तु जग्गू ने किसी की बात नहीं मानी।

शोरगुल सुनकर राजा कुम्भाजी भी बाहर निकल आये और जग्गू से सहसा गाँव छोड़ने का कारण पूछने लगे।

क्रोध में उचित-अनुचित का बोध भूलकर जग्गू ने कठोर शब्दों में उन्हें सारी घटना बता दी और स्पष्ट रूप से यह बता दिया कि उसके लिये अब ऐसे राज्य में निवास करना सम्भव नहीं है। राजा ने मधुर शब्दों में उसे सन्तुष्ट करने का प्रयास किया और सिपाही के लिये दण्ड की भी व्यवस्था कर दी। परन्तु इसके बावजूद जग्गू नहीं माना, वह तो जाने पर अड़ा हुआ था। तभी कुम्भाजी को जग्गू के उस कारनामे की बात याद आ गयी। वे उसके निकट जाकर उसके कान में बोले, "गाड़ी में चक्का लगाने के लिये अपना कन्धा लगाने वाला यदि कोई राजा मिल जाय, तो उसी के राज्य में चले जाना" – इतना कहकर राजा अपने गढ़ में चले गये।

इधर जग्गू के पाँव मानो धरती से जकड़ गये। उसमें अब हिलने-डुलने तक की सामर्थ्य नहीं रह गयी थी। इस स्थिति की तुलना में तो उसके लिये चुल्लू भर पानी में डूब मरना भी अच्छा होता। ऐसे देवता का राज्य छोड़कर वह कहाँ चला जा रहा था? उसके सम्मान की रक्षा के लिये ही राजा उसके पाप की बात धीरे-से उसके कान में ही कह गये थे। उससे और नहीं रहा गया। वह पश्चाताप की अग्नि में दग्ध होने लगा। वह दौड़ते हुए जाकर कुम्भाजी के चरणों में गिर पड़ा और क्षमा की याचना करने लगा।

राजा ने उसका हाथ पकड़कर उठाया और बोले, "जाओ पटेल, घर लौट जाओ। और शान्ति से रहो।"*

(उद्बोधन, वर्ष ५६, अंक ७ से अनूदित)

* कहते हैं कि कुम्भाजी वर्तमान गोंदल-नरेश के पूर्वज थे। वर्तमान सौराष्ट्र ही काठियावाड़ कहलाता था।

स्वामी कल्याणदेवजी के प्रेरणा-सन्त : स्वामी विवेकानन्द जी

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

(प्रस्तुत लेख में स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं शतवार्षिकी के उपलक्ष्य में उनसे प्रेरणा प्राप्तकर सेवायज्ञ में अपने सुदीर्घ १२९ वर्ष के जीवन को होम कर देनेवाले स्वामी कल्याणदेव जी के त्याग और सेवामय जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। यह लेख स्वामी कल्याणदेव जी के शिष्य एवं उत्तराधिकारी स्वामी ओमानन्द जी से लेखक के वार्तालाप एवं उनसे प्राप्त सामग्रियों पर आधारित है। लेखक के साथ हुये वार्तालाप और प्रेस कॉन्फ्रेंस के संक्षिप्त संवाद को वहाँ के स्थानीय समाचार पत्र 'अमर उजाला' और 'दैनिक जागरण' ने प्रकाशित किया। उसके बाद लेख-आकार में इसे स्वामी कल्याणदेव जी द्वारा स्थापित संस्था 'शुकदेव आश्रम, स्वामी कल्याणदेव सेवा ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित 'शुकदेव-तीर्थ संदेश' नामक पत्रिका में अक्टूबर-२००७ में प्रकाशित किया गया। उसे ही कुछ नई सामग्रियों के साथ संशोधित और विस्तृत रूप में 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है।)

स्वामी विवेकानन्दजी की वाणी के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् एवं महान् चिन्तक रोमॉ रोला लिखते हैं –

"उनके शब्द महान् संगीत हैं। बीथोवन शैली के टुकड़े हैं, हैंडेल के समवेत गान के छन्द-प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में विद्युत-स्पर्श के समान आघात की सिहरन का अनुभव किये बिना मैं उनके इन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं। और जब वे नायक के मुख से ज्वलन्त शब्दों में निकले होंगे, तब तो न जाने कैसे आघात एवं आवेग पैदा हुये होंगे।" ऐसी थी स्वामी विवेकानन्द जी की ओजस्वी वाणी ! उनकी वाणी का प्रभाव देश-विदेश के असंख्य लोगों पर पड़ा। उनकी वाणी से आबाल-वृद्ध-वनिता तो प्रभावित हुये ही, साथ ही प्रभावित हुये जन-साधारण से लेकर मन्त्री, दीवान और राजा-महाराजे तक, बुद्धिजीवी वर्ग में प्रकाण्ड विद्वान् से लेकर राज्य की अनपढ़, निरक्षर ग्रामीण प्रजा तक, भारतीय सम्पन्न जमींदारों और विदेशी अँग्रेज अधिकारियों से लेकर महान विद्वान तक, स्वतन्त्रता सेनानियों-राजनेताओं से लेकर समाज सुधारकों तक, तथा सभी वर्गों से लेकर समस्त सम्प्रदाय के सन्त महात्माओं तक। इसका उल्लेख लोगों ने विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्थानों पर किया है। किसी ने अपनी आत्मकथा में, किसी ने अपनी डायरी में और किसी ने अपने पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में किया है। उनकी वाणी ने श्रोताओं के जीवन में एक नयी क्रान्ति ला दी थी। उन श्रोताओं के जीवन का रूपान्तरण हो गया। अनेकों ने उनसे समाज-सेवा और राष्ट्र-सेवा की प्रेरणा ली और अपना जीवन देश की सेवा में उत्सर्ग कर दिया।

स्वामी विवेकानन्द जी की इस ओजस्वी वाणी का प्रभाव एक युवक सन्त पर भी पड़ा, जिससे उस युवा-सन्त के जीवन की धारा ही बदल गई। वे थे – उत्तर प्रदेश के शुक्रताल के १२९ वर्षीय, तीन सदी के युगद्रष्टा, वीतराग परमश्रद्धेय महान सन्त स्वामी कल्याणदेव जी महाराज।

स्वामी विवेकानन्द जी ने और भी कहा – "भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों का कोई साथी नहीं। वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका परिणाम है परतन्त्रता। संसार की इस हीन अवस्था का कारण है ... सहानुभूति का अभाव, हृदय का अभाव (वि.सा., खं.-१, पृ-४०३-४)।

"आशा तुम लोगों से है, जो विनीत निरभिमानी और विश्वासपरायण हैं। ईश्वर के प्रति आस्था रखो। ... दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर से प्रार्थना करो, वह अवश्य मिलेगी (वि.सा., खं-१, पृ-४०४-८)।

आओ भाइयो ! साहसपूर्वक सामना करो। कार्य गुरुतर है और हमलोग साधनहीन हैं, तो भी हम अमृत-पुत्र ईश्वर की सन्तान हैं। प्रभु की जय हो ! हम अवश्य सफल होंगे। ... विश्वास, सहानुभूति, दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिये।" (वि. सा. खं-१, पृ-४०५)।

स्वामी कल्याणदेव जी ने भी स्वामी विवेकानन्द जी के इस हार्दिक आह्वान को अपने हृदय के अन्तरतम में बोध किया। अपने भ्रमण के दौरान भारत के दीन-दुखियों की दुर्दशा, उनकी संवेदना और उनकी आन्तरिक पीड़ा से वे भी व्यथित हुये। स्वामी विवेकानन्द जी से उनकी भेंट होने पर स्वामीजी की प्रेरणा से उनके हृदय में विद्यमान परदुखकातरता की गंगा का स्रोत तीव्र वेग से प्रवाहित होने लगा। स्वामी विवेकानन्द जी ने जब देश की गरीब जनता की सेवा का उन्हें प्रेरणा-मन्त्र दिया, तब स्वामी कल्याणदेव जी के हृदय में स्थित दीन-दुखियों की सेवा की भावना प्रबलतम हो उठी तथा उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन दीन-दुखी, गरीब, दलित-पीड़ित लोगों की सेवा में न्यौछावर कर दिया।

स्वामी कल्याणदेव जी का संक्षिप्त परिचय

स्वामी कल्याणदेव जी महाराज का जन्म २१ जून सन् १८७६ में उत्तर प्रदेश के बागपत जिले के 'कोताना' नामक ग्राम में उनके ननिहाल में कर्मठ और धर्मशील परिवार में हुआ था। उनका पालन-पोषण मुजफ्फरनगर जिले के उनके पैतृक गाँव 'मुंडभर' में हुआ था। इनके बचपन का नाम कालूराम था। माताजी का नाम था श्रीमती भोई देवी जी और पिताजी थे श्री फेरुदत्त जी।

सेवा-बीज का प्रथम अंकुरण और गृह-त्याग

धर्मपरायण परिवार के सुसंस्कारों के कारण ये बचपन से

ही धार्मिक प्रवृति एवं ईश्वर के भक्त थे। १० वर्ष की उम्र में गाँव में रामलीला में भरत-मिलाप का दृश्य देखकर उनके हृदय में वैराग्य का संचार हुआ और उससे प्रेरित होकर उन्होंने गृह का त्याग कर दिया।

श्री अर्जुन लाल बंसल जी ने अपने संस्मरण में लिखा है – "एक दिन की बात है। मैं स्वामीजी (स्वामी कल्याणदेव जी) के सान्निध्य में बैठा हुआ था। जिज्ञासावश उनसे पूछ बैठा कि आपको सेवा और त्याग करने की प्रेरणा कैसे मिली? इसे सुनकर बाबा के मुख पर मुस्कान खिल उठी। अपने आराध्यादेव को स्मरण करने का जैसा सुअवसर ही मिल गया। मुझे अपने समीप बैठाकर बताने लगे कि – 'मुझे बचपन से ही भगवान राम के प्रति आसक्ति हो गयी थी। उनके चरित्रों को सुन-सुनकर मन को शान्ति मिलने लगी।

'श्री रामचरितमानस का पाठ करते-करते उनके चरित्रों से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयास करने लगा, जिसका अनुकरण करने से मेरा जीवन धन्य हो गया। एक दिन शबरी प्रसंग पर विचार करते समय ऐसा अनुभव होने लगा कि बस यही वह पवित्र चरित्र है, जिसके अनुकूल अपनी जीवनधारा मोड़ने में ही जीवन की सार्थकता है। उसी समय से शबरी की भाँति सेवा का व्रत लिया।'

इस प्रसंग की चर्चा करते हुए बाबा कहने लगे – 'घोर वनों के बीच एक कच्ची कुटिया के रूप में स्वच्छ आश्रम का छप्पर बनाकर शबरी नामक भीलनी रहती थी। सेवा को अपना धर्म मानकर त्याग-भावना से अभिभूत होकर रात्रि के द्वितीय प्रहर में अपने आश्रम की ओर आने वाली समस्त पगडंडियों को बुहारा करती थी। शबरी के मन में यह भावना थी कि इस ओर से आने-जाने वाले किसी संत, महात्मा या पथिक को काँटा न लग जाए। शबरी यह भी जानती थी कि माता जानकी और लक्ष्मण के साथ उसके इष्टदेव श्रीरामजी भी किसी दिन उसकी कुटिया पर अवश्य आयेंगे। उनकी प्रतिक्षा में शबरी अपना सेवा कार्य श्रीरामजी के भजन गा-गाकर करती रहती थी। अपने आश्रम की ओर आने वाली राहों पर सफाई करते-करते विचार करती रहती थी कि न जाने कब और किस डगर से मेरे श्रीरामजी इधर आ निकलें। नि:स्वार्थ सेवा और त्याग की मूर्ति ने मेरा मन मोह लिया। मैंने मन-ही-मन उस शबरी को अपना गुरु मान लिया। इसके पश्चात् भरत जी ने जैसे राज-पाट का मोह त्याग एक सच्चे वीतरागी की भाँति श्रीराम की शरणागति प्राप्त की। इन दोनों तपस्वियों के चरित्र में अपनी मानसिकता और भावनाओं का प्रतिरूप देखा और चल पड़ा उन्हीं राहों पर।"

प्रव्रजन और संन्यास-ग्रहण

स्वामी कल्याणदेव जी तीर्थों और अन्यान्य स्थानों में भ्रमण करने लगे और एक परिव्राजक का जीवन व्यतीत करने लगे।

अपने परिव्रजन काल में उनकी भेंट अनेकों सन्तों से हुई जिसमें प्रमुख थे – स्वामी विवेकानन्द जी और स्वामी पूर्णानन्द जी। १९०० ई. में ऋषिकेश में 'मुनी की रेती' में स्वामी पूर्णानन्दजी से उनकी भेंट हुई। उन्होंने कालूराम को संन्यास देकर 'स्वामी कल्याणदेव' नाम दिया।

(इस संबंध में स्वामी कल्याणदेव जी के शिष्य एवं उत्तराधिकारी स्वामी ओमानन्द जी महाराज ने मुझे लिखा था – "सम्भव है १९०० के बजाय १८९७ ई. में ही ऋषिकेश में मुनि की रेती में पूज्य स्वामी पूर्णानन्द जी से संन्यास की दीक्षा प्राप्त की होगी।)

स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट

स्वामी विवेकानन्द जी से उनकी भेंट सन् १८९३ और १८९७ में हुई थी। इन्हीं बिन्दुओं पर विस्तृत वर्णन एवं विश्लेषण इस लेख का विवेच्य विषय है। इसकी चर्चा हम आगे करें।

महान पुरुषों के प्रेरक, सहयोगी और सान्निध्य में

स्वामी विवेकानन्द जी की प्रेरणा से स्वामी कल्याणदेव जी ने शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के द्वारा गरीबों की आजीवन सेवा की।

१९१५ ई. में उनकी भेंट राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी से हुई और उनसे उन्हें देश-सेवा की प्रेरणा मिली। बाद में उनकी भेंट अनेकों महान सन्तों, विद्वानों, मन्त्रियों, प्रशासकों, समाज सुधारकों, गणमान्य नागरिकों और सरकार में उच्च पदस्थ महानुभावों से हुई, जो लोग स्वामीजी से प्रेरणा प्राप्त कर स्वामीजी के कार्यों में सहयोगी बने। उनमें प्रमुख हैं – पं. मोतीलाल नेहरू, पं. मदन मोहन मालवीय, पं. जवाहर लाल नेहरू, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, श्री गुलजारी लाल नन्दा, श्री लाल बहादुर शास्त्री, डॉ. सम्पूर्णानन्द, पं. गोविन्द वल्लभ पन्त, संत विनोबा भावे, लाला लाजपत राय, पं कमलापति त्रिपाठी, श्री ज्ञानी जैल सिंह, माँ आनन्दमयी, स्वामी करपात्री जी महाराज, तत्कालीन परम पूज्य चारों जगद्गुरु शंकराचार्य जी, देवरहा बाबा और श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी आदि।

प्रथम प्रधानमन्त्री से लेकर श्री अटल बिहारी वाजपेयी तक और प्रथम राष्ट्रपति से लेकर श्री अब्दुल कलाम तक, अनेकों राज्यों के मुख्यमन्त्रियों और राज्यपालों तक, उपरोक्त सभी महानुभावों को यथासमय आपका पावन सान्निध्य मिलता रहा और समय-समय पर आपके पत्रों द्वारा उन्हें प्रेरणा मिलती रही।

सेवा-बीज का सेवा-वट-वृक्ष में रूपान्तरण

स्वामी विवेकानन्द जी भेंट होने के बाद स्वामी कल्याणदेव जी का बचपन में शबरी के जीवन से अंकुरित सेवा-बीज, एक विशाल सेवा-वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो गया। स्वामी कल्याणदेव जी ने अपने सुदीर्घ १२९ वर्ष के कार्यकाल

में विभिन्न क्षेत्रों में समाज एवं राष्ट्र की सेवा की, जो भारतीय इतिहास में अविस्मरणीय रहेंगे। पराधीन भारत से लेकर स्वाधीन भारत के अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक वे अपने प्रिय देशवासियों को सर्वप्रकारेण सुखी-समृद्ध, शिक्षित और सुस्वास्थ्यकर बनाने में प्रयत्नशील रहे।

विभिन्न क्षेत्रों में सेवा-कार्य

स्वामी कल्याणदेव जी ऐतिहासिक प्राचीन धार्मिक स्थानों और तीर्थ-स्थलों के जीर्णोद्धारक थे। उन्होंने शिक्षा, चिकित्सा, ग्राम्य विकास, स्वास्थ्य, स्वच्छता, दलित वर्ग की सेवा, गो सेवा, पंचायती कार्य - ग्रामीणों के परस्पर झगड़ों से उत्पन्न कटुता को मिटाकर उनमें प्रेम सद्भावपूर्ण संबंध स्थापित कराने में, पर्यावरण की रक्षा और वृक्षारोपण कराने, महिला बाल-कल्याण, देश में महान यज्ञों के आयोजन, गुरुकुलों की स्थापना, और संस्कृत-सेवा के क्षेत्र में अनुपम योगदान किया।

स्वामीजी ने लगभग ३०० संस्थायें स्थापित कीं, जिनमें प्रमुख हैं – इंजीनियरिंग कॉलेज, मेडिकल कॉलेज, कृषि विज्ञान केन्द्र, डिग्री कॉलेज, प्राथमिक विद्यालय से लेकर इण्टर कॉलेज तक, चिकित्सालय और औषधालय, नेत्र-चिकित्सालय, संस्कृत पाठशाला, छात्रावास, धर्मशाला, उद्योग केन्द्र, मूक-बधिर और अन्ध विद्यालय, गोशाला, वृद्धाश्रम, अनाथालय और कारगिल शहीद-स्मारक, आध्यात्मिक और धार्मिक केन्द्र आदि।

स्वामी कल्याणदेव जी के जीवन के दो महान योगदान हैं – **१. शुक्रताल-तीर्थ में शुकदेव-व्यासपीठ की खोज एवं पुनरुद्धार** – स्वामीजी ने शुक्रताल तीर्थ का पुन: जीर्णोद्वार किया और देश की महान विभूतियों को बुलाकर उसकी महिमा से अवगत कराया। पुन: भागवत कथा की प्राचीन परम्परा को प्रारम्भ किया एवं देश के महान संतों, भागवत-कथाकारों को बुलाकर अपने भगीरथ-परिश्रम से पुन: भागवत-कथा की सरिता को प्रवाहित किया।

२. शापग्रस्त हस्तिनापुर को शापमुक्त श्रीसम्पन्न करना – ऐतिहासिक स्थल कौरवों-पाणडवों की राजधानी हस्तिनापुर को पाण्डव-प्रिया द्रौपदी ने अभिशाप दे दिया था। उस सतीव्रता से अभिशप्त होने के कारण वह प्राचीन काल से विपन्न हो गया था। उस शाप से मुक्त कराने हेतु स्वामी कल्याणदेव जी ने भगवान श्रीकृष्ण का मन्दिर बनवाकर उसे शापमुक्त किया तथा विपन्न एवं श्रीहीन हस्तिनापुर में पुँजपतियों को प्रेरित कर कारखाना, विद्यालय, चिकित्सालय, यज्ञशाला, कृषि-फार्म, आयुर्वेदिक अनुसंधान केन्द्र आदि की स्थापना कर पुन: उसे विकसित एवं समृद्ध किया।

महान विभूति को लोकसेवा हेतु राष्ट्र-सम्मान

स्वामी कल्याणदेव जी के लोक-कल्याणकारी कार्यों से प्रभावित होकर १९८२ में महामहिम राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने उन्हें 'पद्मश्री' की राष्ट्रीय उपाधि से सम्मानित किया और वर्ष २००० में महामहिम राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन् ने 'पद्मभूषण' से विभूषित किया। उन्हें सन् १९९३ में प्रथम 'नन्दा नैतिक पुरस्कार' मिला और २००२ में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल और कुलाधिपति आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने उन्हें 'डी. लिट.' की मानद उपाधि प्रदान की। सन् २००२ में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी ने 'तीन सदी के युगद्रष्टा 'स्वामी कल्याणदेव अभिनन्दन ग्रन्थ' का विमोचन किया। 'अभिनन्दन ग्रन्थ' के संदेश में प्रधानमंत्री श्रीवाजपेयी जी ने लिखा – "भारतवर्ष अनादि काल से ऋषि-मुनियों की तपोभूमि रहा है। स्वामी कल्याणदेव जी पुरानी पीढ़ी के उन महान संतों में अग्रणी हैं, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी तथा महामना मालवीय जी से प्रेरणा लेकर जहाँ स्वाधीनता संग्राम में योगदान किया, वहीं अपना जीवन परोपकार तथा दरिद्र-नारायण की सेवा में समर्पित कर दिया। संस्कृत व संस्कृति के प्रचार-प्रसार के अलावा गोरक्षा के लिये उनका उल्लेखनीय योगदान सर्वविदित है।"

इस प्रकार लोक-पूज्य सन्त ने १२९ वर्ष तक इस धराधाम में रहकर लोकसेवा में विशेषकर जन-साधारण दीन, दुखी, गरीबों, पिछड़े वर्गों की सेवा में अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया।

महासमाधि में प्रलीन

इस क्षणभंगुर संसार के नियमानुसार कालचक्र ने अहर्निश जन-कल्याण में निरत दीन-दुखियों के वास्तविक सुहृद इस लोकहितैषी सन्त को हमसे छीनकर सबको अनाथ कर दिया। १९ जुलाई, २००४ को वे १२.३० बजे रात्रि में अपने अभिप्सित पावन अक्षय वट-वृक्ष और शुकदेव मन्दिर की परिक्रमा कर ब्रह्मलीन हो गये। उनके ब्रह्मलीन होने से सारा राष्ट्र शोकाकुल हो गया। गरीबों का मसीहा, धनियों-शासकों का सत्प्रेरक और सन्त-समाज के आदर्श की प्रतिमूर्ति का भौतिक शरीर सदा के लिये इस धराधाम से चला गया। इस से राष्ट्र और विश्वादर्श की अपूरणीय क्षति हुई।

महान त्यागी स्वामी कल्याणदेव जी के प्रेरणाप्रद जीवन की कुछ झलकियाँ –

आत्मा को जर्जर मत होने दो – सन् २००१ में तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन् जी ने स्वामी कल्याणदेव जी महाराज को पद्मभूषण से सम्मानित किया। उस समय महाराज जी ने जो जाकेट पहनी थी, वह अनेकों जगह से फटी थी और उस पर कई पैबन्द (थेकली) लगे हुये थे। नई जाकेट पहनने हेतु अनुरोध करने पर स्वामीजी ने बड़ा ही दार्शनिक और प्रेरणदायी जबाव दिया – "वस्त्र और शरीर तो जर्जर होना ही है, आत्मा को जर्जर मत होने देना। लोग यही गलती करते हैं कि नाशवान को

चमकाते रहते हैं और अनश्वर को भूल जाते हैं।'' (मनोज अग्रवाल के स्मृति-लेख से उद्धृत)

परदुखकातरता – स्वामी कल्याणदेव जी महाराज सदैव फटे-पुराने कपड़े पहनकर दूसरों की सेवा करते रहे। सर्दियों में भक्तों के द्वारा कंबल, रजाई, गर्म कपड़े आदि देने पर वे उन सभी वस्त्रों को जरुरतमंद गरीबों में बाँट देते थे। वे स्वयं भूखे रहकर, अपने आप परेशानियाँ सहकर, स्वयं फटे-पुराने वस्त्र धारण कर, गरीबों, जरुरतमंदों को भोजन, वस्त्र,धन आदि उपलब्ध कराने एवं अतिथियों को स्वयं अपने हाथों से भोजन खिलाकर ही सदैव आनन्दित होते थे। कभी अपनी सुविधा का ख्याल नहीं रखते थे। वे भक्तों को कहते थे कि अपनी जरुरतें कम करो और अपनी कमाई का २ प्रतिशत जरुरतमंदों को दे दो। जो अपनी कमाई अकेले खायेगा, वह अगले जन्म में पक्षी बनेगा।

इस संबंध में अनेकों घटनाओं में से एक घटना का उल्लेख मैं कर रहा हूँ – एकबार महाराज जी की खड़ाऊँ की कील उनके पैर में चुभती थी, इसलिये वे अपना पैर तीरछा करके चलते थे। इसे देखकर उनके सेवक स्वामी ओमानन्द जी ने एक नई खड़ाऊँ मँगा दी। उसी समय काँजीखेड़ा से एक वृद्ध महात्मा आ गये। महाराज जी ने वह खड़ाऊँ उन्हें दे दी। दूसरों के प्रति यह था उनका प्रेम ! (श्री श्यामसुन्दर शर्मा, कार्यालय अधिक्षक, मेरठ विश्वविद्यालय के संस्मरण से उद्धृत)

समय के पाबंद – स्वामी कल्याणदेव जी महाराज समय के बड़े पाबंद थे। वे अपने भक्तों से प्राय: कहा करते थे कि ''अँग्रेजों ने सारे देश पर राज्य किया है। उनके शासन में सूर्य नहीं छिपता था। इसका एक ही कारण था कि अँग्रेज समय का पाबन्द था। हमारे मुल्क में समय की कदर नहीं रह गयी है। इसलिये आनेवाले समय में हमें कोई गुलाम होने से नहीं बचा सकेगा। क्योंकि जो समाज समय की कदर नहीं करता, उसको समय कभी माफ नहीं करेगा।''

स्वामीजी समय-पाबंद के सिद्धान्त को अपने जीवन में अक्षरश: पालन करते थे। वे कभी भी अपना और किसी दूसरे के समय को नष्ट नहीं करते थे। इस संबंध में एक बड़ी प्रेरक घटना है, जिसका उल्लेख करने के लिये मैं विवश हूँ। एक बार श्री श्यामसुन्दर शर्मा जी, कार्यालय अधिक्षक, मेरठ विश्वविद्यालय और कृषि विज्ञान केन्द्र के प्रशिक्षण प्रबन्धक डॉ.वी.पी सिंह जी दोनों केन्द्र की आवश्यक पत्रावलियों पर पूज्य महाराज जी से हस्ताक्षर करवाने के लिये लगभग १२ बजे पूर्वाह्न में महाराज जी के निवास स्थान पर पहुँचे। कमरे में झाँककर देखा, तो महाराज जी चारपाई पर बैठकर भोजन कर रहे थे। ये दोनों लोग दबे पाँव वापस आ गये कि बाद में हस्ताक्षर करा लेंगे, अभी जाना उचित नहीं होगा। पूज्य स्वामीजी महाराज ने इन्हें देख लिया और मुँह की रोटी निगलते हुये अपने सेवक को आवाज दी, 'ओम' 'ओम', सुनों। ये दोनों लोग कमरे में गये और कहा कि हमें जानकारी नहीं थी कि आप भोजन कर रहे हैं, हमसे गलती हो गयी है। आप भोजन कर लें। हम बाद में हस्ताक्षर करा लेंगे। महाराज श्री ने तुरन्त अपने पास के लोटे को उठाकर हाथ धोकर कहा, ''लाओ कलम''। इन लोगों ने बड़े ही संकोच पूर्वक ५-६ पत्रावलियाँ दीं। महाराज जी ने हस्ताक्षर करके कहा, ''देखो, केन्द्र (कृषि विज्ञान केन्द्र) के कार्य में कभी देरी ना करो, कभी संकोच ना करो, समय वेस्ट ना करो, समय बड़ा कीमती है। खाना खाना तो मेरा निजी काम है। बाद में भी खाया जा सकता है। चाहे रात के १२ बजे हों, बेहिचक दस्तखत करा लिया करो। अच्छा!'' ऐसा था उनका महान व्यक्तित्व !

मधुकरी वृत्ति से तृप्त जीवन – स्वामी कल्याणदेव जी के सादगी एवं भिक्षावृत्ति के प्रति उत्तर प्रदेश की भूतपूर्व मन्त्री श्रीमती चन्द्रावती जी अपने संस्मरण में लिखती हैं – ''एक बार स्वामीजी कार में मेरे साथ यात्रा कर रहे थे। कार में मेरी छोटी बहन भी थी। एक जगह उन्होंने ड्राइवर को तुरन्त गाड़ी रोकने को कहा। ड्राइवर ने कार रोक दी। वे मेरी छोटी बहने से बोले – ''इस घर से एक सूखी रोटी माँग कर ला, मधुकरी।'' मैं और मेरी बहन सुनकर चकित हो उठी। मेरी छोटी बहन तुरन्त कार से उतरकर जिस घर की ओर स्वामीजी ईशारा किये थे, वहाँ गयी और रोटी सेंक रही गृहिणी से एक रोटी माँगकर लायी। स्वामीजी ने उसके चार टुकड़े किये एक टुकड़ा मुझे, दूसरा मेरी छोटी बहन को, एक तीसरा ड्राइवर को और चौथा स्वयं खाने लगे। ड्राइवर ने पूछा, ''स्वामीजी चलें?'' स्वामीजी ने कहा, ''हाँ, चलो, मैं मधुकरी से तृप्त हो गया।''

किसान और मजदूरों के यहाँ ही भिक्षा क्यों –

श्री सत्यप्रकाश सीमन, सम्पादक 'जययात्रा और श्री विमल कुमार शर्मा, महामन्त्री 'कल्याणंकरोति' इन दोनों ने उल्लेख किया है कि पूज्य स्वामीजी भिक्षान्न ही लेते थे। श्री सीमन जी अपने संस्मरण में लिखते हैं – ''डॉ. एन. एस. त्यागी ने मुझे बताया कि स्वामी दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं। किसी पूँजीपति के यहाँ तो वे खाना खाते ही नहीं, भोजन के वक्त यदि कहीं हैं, तो उनके सेवक ओमानन्द जी आसपास के पड़ोस में जायेंगे और १०-१२ घरों से रोटी माँगकर लायेंगे, जिससे वे स्वामीजी व सेवक इच्छानुसार भोजन करते हैं। शेष रोटी भक्तों में प्रसाद स्वरूप वितरित कर दी जाती है।'' ❖ **(शेष अगले अंक में)** ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (८)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्य – मृत्युना एवं प्रलोभ्यमान: अपि नचिकेता महाह्रदवत् अक्षोभ्य: आह –

भाष्य-अनुवाद – यमराज के द्वारा इस प्रकार प्रलोभित किये जाने पर भी नचिकेता एक विशाल सरोवर के समान अविक्षुब्ध (शान्त) रहकर बोला –

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।२६।।

अन्वयार्थ – (नचिकेता ने कहा –) **अन्तक** हे यमराज, (आपके द्वारा प्रस्तावित भोग्य वस्तुएँ) **श्व:-भावा:** कल तक रहेंगी या नहीं (ऐसी अनिश्चित भविष्य वाली हैं) **मर्त्यस्य** मनुष्य की **सर्वेन्द्रिणाम्** सभी इन्द्रियों में **यत् एतत् तेज:** जो शक्ति है, उसे **जरयन्ति** जीर्ण कर डालती हैं। **अपि** इसके अतिरिक्त **सर्वम्** (ब्रह्माजी से लेकर) सभी का **जीवितम्** जीवन-काल **एव** ही **अल्पम्** अल्प या सीमित है; (अत:) **तव** आपके **वाहा:** रथ आदि वाहन (तथा) **नृत्यगीते** नृत्य-गीत आदि **तव एव** आपके ही पास रहें।

भावार्थ – (नचिकेता ने कहा –) हे यमराज, आपके द्वारा प्रस्तावित भोग्य वस्तुएँ कल तक रहेंगी या नहीं (ऐसी अनिश्चित भविष्य वाली हैं) और ते मनुष्य की सभी इन्द्रियों की शक्ति को जीर्ण कर डालती हैं। इसके अतिरिक्त (ब्रह्माजी से लेकर) सभी का जीवन-काल सीमित या अल्प ही है; (अत:) आपके रथ आदि वाहन तथा नृत्य-गीत आदि आपके ही पास रहें।

भाष्य – श्वो भविष्यन्ति न वा इति संदिह्यमान: एव येषां भाव: भवनं त्वया उपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावा:। किं च, मर्त्यस्य मनुष्यस्य अन्तक हे मृत्यो, यत् एतत् सर्वेन्द्रियाणां तेज: जरयन्ति अपक्षपयन्ति। अप्सर: प्रभृतय: भोगा: अनर्थाय एव एते, धर्म-वीर्य-प्रज्ञा-तेजो-यश:-प्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्।

भाष्य-अनुवाद – आपके द्वारा प्रस्तावित भोगों (अप्सराओं आदि) के अस्तित्व (भाव) के विषय में ऐसा सन्देह है कि वे कल रहेंगे या नहीं। इसके अतिरिक्त हे यमराज, ये मनुष्य की सभी इन्द्रियों के तेज का नाश कर देती हैं, अत: उसके धर्म, बल, ज्ञान, तेज, यश आदि का क्षय करनेवाली होने के कारण उसके लिये अनर्थकारी है।

यां च अपि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्र अपि शृणु। सर्वं यत्-ब्रह्मण: अपि जीवितम् आयु: अल्पम् एव, किमुत अस्मद्-आदि-दीर्घजीविका। अत: तव एव तिष्ठन्तु वाहा: रथादय:, तथा तव नृत्यगीते च।

आप जो लम्बी आयु देना चाहते हैं, अब उसके बारे में भी सुन लीजिये। सबकी, यहाँ तक कि जब ब्रह्मा की आयु भी अल्प ही है, तो फिर हम जैसे लोगों की दीर्घ-जीविता के विषय में क्या कहा जाय? अत: रथ आदि और नृत्य-गीत – सब आप ही के पास रहें।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीय: स एव ।।२७।।

अन्वयार्थ – **मनुष्य:** मनुष्य **वित्तेन** धन आदि के द्वारा **तर्पणीय: न** सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। **चेत्** चूँकि (मैंने) **त्वा** आपका **अद्राक्ष्म** दर्शन कर लिया है, (अत: इच्छा होने पर) **वित्तम्** धन **लप्स्यामहे** पा लूँगा। **त्वम्** आप **यावत्** तब तक **ईशिष्यसि** (यम के रूप में) शासन करेंगे, (उतने काल तक) **जीविष्याम:** मैं जीवित रहूँगा। **तु** परन्तु **मे** मेरे लिये तो **स:** वह **वर:** पूर्वोक्त वर **एव** ही **वरणीय:** माँगने योग्य है।

भावार्थ – मनुष्य धन आदि के द्वारा सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। चूँकि मैंने आपका दर्शन कर लिया है, (अत: इच्छा होने पर) धन भी पा लूँगा। आप तब तक (यम के रूप में) शासन करेंगे, (उतने काल तक) मैं जीवित रहूँगा। परन्तु मेरे लिये तो वह पूर्वोक्त वर ही माँगने योग्य है।

भाष्य – किं च – न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीय: मनुष्य:। न हि लोके वित्तलाभ: कस्यचित् तृप्तिकर: दृष्ट:। यदि नाम-अस्माकं वित्त-तृष्णा स्यात्, लप्स्यामहे प्राप्स्यामहे वित्तम्, अद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत् त्वा त्वाम्।

भाष्य-अनुवाद – फिर, मनुष्य अत्यधिक धन के द्वारा भी सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। क्योंकि धनप्राप्ति संसार में किसी को भी तृप्त करती हुई नहीं दिखाई देती। यदि कभी

हमारे मन में धन की तृष्णा उत्पन्न भी हुई, तो चूँकि हम आप का दर्शन कर चुके हैं, अत: वह स्वत: ही प्राप्त कर लेंगे।

जीवितम् अपि तथा एव – जीविष्याम: यावत् याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसि ईशिष्यसे प्रभु: स्या: । कथं हि मर्त्य: त्वया समेत्य अल्प-धन-आयु: भवेत् ? वरस्तु मे वरणीय: स एव यत्-आत्मविज्ञानम् ।।

इसी प्रकार हमें लम्बी आयु भी प्राप्त हो जायगी। जब तक आप यम के पद पर रहकर राज्य करते रहेंगे, तब तक आपसे मिला हुआ व्यक्ति भला निर्धन या अल्पायु कैसे होगा ! मेरे लिये माँगने योग्य वरदान तो बस, वह एक ही – आत्मज्ञान-विषयक वरदान ही है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्य: क्वध:स्थ: प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत् ।।२८।।

अन्वयार्थ – **कु-अध:-स्थ:** अन्तरिक्ष आदि लोकों के नीचे (पृथ्वी पर) निवास करनेवाला **क:** कौन **जीर्यन्** जरा-मरणशील **मर्त्य:** मनुष्य **अजीर्यताम्** जरारहित (वार्धक्यहीन) **अमृतनाम्** देवताओं के **उप-इत्य** निकट जाकर **प्र-जानन्** भलीभाँति जानकर (कि उनसे उच्चतर उद्देश्य प्राप्त हो सकता है), **वर्ण-रति-प्रमोदान्** गीत, क्रीड़ा आदि से होनेवाले सुखों को (अनित्य) **अभिध्यायन्** समझकर (भी) **अतिदीर्घे** अत्यन्त लम्बी **जीविते** आयु में **रमेत** आनन्द प्राप्त करेगा?

भावार्थ – अन्तरिक्ष आदि लोकों के नीचे (पृथ्वी पर) निवास करनेवाला कौन जरा-मरणशील मनुष्य जरारहित (वार्धक्यहीन) देवताओं के निकट जाकर भलीभाँति जानकर (कि उनसे उच्चतर उद्देश्य प्राप्त हो सकता है), गीत, क्रीड़ा आदि से होनेवाले सुखों को (अनित्य) समझकर (भी) अत्यन्त लम्बी आयु में आनन्द प्राप्त करेगा?

भाष्य – यत: च - अजीर्यतां वयोहानिम् अप्राप्नुवताम् अमृतानां सकाशम् उपेत्य उपगत्य आत्मन: उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्य तेभ्य: प्रजानन् उपलभमान: स्वयं तु जीर्यन् मर्त्य: जरा-मरणवान् क्वध:स्थ: कु: पृथिवी अध: च असौ अन्तरिक्ष-आदि-लोक-अपेक्षया, तस्यां तिष्ठति इति क्वध:स्थ: सन्, कथम् एवम् अविवेकिभि: प्रार्थनीयं पुत्र-वित्त-आदि-अस्थिरं वृणीते ।

भाष्य-अनुवाद – इसके अतिरिक्त, आयु न घटनेवाले देवताओं के निकट और यह देख-समझकर कि उनसे इससे भी उत्कृष्ट लाभ प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु स्वयं जरा-मरण युक्त – क्वधस्थ – अन्तरिक्ष आदि लोकों की तुलना में नीचे स्थित पृथ्वी पर रहता हुआ, वह भला कैसे अविवेकियों द्वारा इच्छित पुत्र, धन आदि अस्थिर वस्तुएँ माँग सकता है !

'क्व तदास्थ:' इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन् पक्षे च एवम् अक्षर-योजना – तेषु पुत्र-आदिषु आस्था आस्थिति: तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थ: । तत: अधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापम् अपि प्रापिपयिषु: क्व तदास्तो भवेत्?

'क्व तदास्थ:' – ऐसा पाठभेद है। यहाँ भी वैसा ही अर्थ निकलता है – जिसकी उन पुत्र आदिकों में स्थिति है, अर्थात् जो तत्परतापूर्वक उन्हीं में तल्लीन है, वह व्यक्ति – उससे उच्चतर पुरुषार्थ (जीवन-लक्ष्य), जिसके दुष्प्राप्य होने पर, कब उसमें तल्लीन होगा?

न कश्चित् तत् असारज्ञ: तदर्थी स्यात् इत्यर्थ: । सर्वो हि उपरि उपरि एव बुभूषति लोक: । तस्मात् न पुत्र-वित्त-आदि-लोभै: प्रलोभ्य: अहम् । किं च, अप्सर: प्रमुखान् वर्ण-रति-प्रमोदान् अनवस्थित-रूपतया अभि-ध्यायन् निरूपयन् यथावत् अतिदीर्घे जीविते क: विवेकी रमेत् ।।

तात्पर्य यह कि इन्हें असार समझने वाला कोई भी व्यक्ति इन्हें प्राप्त करने की इच्छा नहीं करेगा। क्योंकि सभी लोग ऊपर की ओर ही उन्नति करना चाहते हैं; अत: मैं पुत्र, धन आदि के प्रलोभन से मुग्ध नहीं हूँ। इसके अतिरिक्त, अप्सराओं आदि से प्राप्त होनेवाले रंग-रूप आदि के सुखों को नश्वर (क्षणिक) स्वरूपवाला जानता हुआ, कौन विवेकी बड़ी लम्बी आयु तक जीवित रहने में आनन्द मानेगा?

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्सांपराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।।२९।।

अन्वयार्थ – **मृत्यो** हे यमराज, **साम्पराये** परलोक-विषयक **यस्मिन्** जिस (आत्मा के) बारे में **इदम्** है या नहीं – ऐसा **विचिकित्सन्ति** संशय करते हैं, **यत्** जो आत्मतत्त्व **महति** महान् प्रयोजन सिद्ध करता है, **तत्** वह **न:** मुझे **ब्रूहि** बताइये। **अयम्** यह **य:** जो **वर:** वर **गूढम्** दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्व में **अनुप्रविष्ट:** प्रविष्ट है अर्थात् गूढ़ आत्मा का अवलम्बन किये हुए है, **तस्मात्** अतएव **नचिकेता** नचिकेता **अन्यम्** दूसरा कोई वर **न वृणीते** नहीं माँगता।

भावार्थ – हे यमराज, परलोक-विषयक जिस आत्मा के बारे में – है या नहीं – ऐसा संशय करते हैं, जो आत्मतत्त्व महान् प्रयोजन सिद्ध करता है, वह मुझे बताइये। यह वर दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्व में प्रविष्ट है अर्थात् गूढ़ आत्मा का अवलम्बन किये हुए है, अत: नचिकेता दूसरा कोई वर नहीं माँगता।

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली ।।

भाष्य – अत: विहाय अनित्यै: कामै: प्रलोभनम्, यत्-मया प्रार्थितम् - यस्मिन् प्रेते इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति न अस्ति इति एवं प्रकारं हे मृत्यो, साम्पराये

परलोकविषये महति महत्-प्रयोजन-निमित्ते आत्म-निर्णय-विज्ञानं यत्, तत् ब्रूहि कथय नः अस्मभ्यम् ।

भाष्य-अनुवाद – अतः हे यमराज, मुझे अनित्य काम्य वस्तुओं से प्रलोभित करना छोड़कर मेरे द्वारा माँगी गयी उस वस्तु (आत्मा) के विषय में बताइये – जिसके बारे में, मृत्यु के बाद यह शंका की जाती है कि रहता है या नहीं रहता। मृत्यु के बाद महान् उद्देश्य की सिद्धि करनेवाला परलोक-सम्बन्धी आत्मा-विषयक सुनिश्चित ज्ञान हमें बताइये।

किं बहुना, योऽयं प्रकृत आत्मविषयः वरः गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तः अनुप्रविष्टः, तस्मात् वरात् अन्यम् अविवेकिभिः प्रार्थनीयम् अनित्य-विषयं वरं नचिकेताः न वृणीते मनसा अपि इति । श्रुतेः वचनम् इति ।।

अधिक क्या कहूँ – यह जो वास्तविक आत्मा-विषयक वर, जो गहन है, समझने में अत्यन्त कठिन है, उक्त वर से भिन्न अविवेकियों द्वारा माँगने-योग्य अनित्य विषय वस्तुओं का वर नचिकेता कल्पना तक में नहीं माँगता। यह (अन्तिम) वचन उपनिषद् का है।

इति प्रथम वल्लीभाष्यम् ।। – कठोपनिषद् के प्रथम वल्ली का भाष्य समाप्त हुआ। ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

महावाक्य पर विचार

तत्त्वं पदाभ्यामभिधीयमानयो-
र्ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदीत्थम् ।
श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्य-
गेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ।।२४१।।

अन्वय – तत्-त्वम् पदाभ्याम् अभिधीयमानयोः ब्रह्म-आत्मनोः यत् इत्थम् शोधितयोः – 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या तयोः एकत्वम् एव मुहुः सम्यक् प्रतिपाद्यते।

अर्थ – (छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक ऋषि अपने पुत्र आरुणी को नौ बार 'तत्त्वमसि' – 'वह तू है' का उपदेश देते हैं। उसी सन्दर्भ में) श्रुति द्वारा 'तत्' (वह) और 'त्वम्' (तुम) शब्दों के वाच्य के रूप में बारम्बार 'ब्रह्म' तथा 'जीव' का एकत्व ही भलीभाँति प्रतिपादित किया गया है।

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययो-
र्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः ।
खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः
कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ।।२४२।।

अन्वय – खद्योत-भान्वोः राज-भृत्ययोः कुप-अम्बुराश्योः परमाणु-मेर्वोः इव अन्योन्य-विरुद्ध-धर्मिणोः तयोः लक्षितयोः ऐक्यं निगद्यते, वाच्ययोः न।

अर्थ – (वहाँ) सूर्य तथा जुगनू, राजा तथा सेवक, समुद्र तथा कुआँ, मेरु पर्वत तथा परमाणु के समान परस्पर-विरुद्ध गुणवाले 'तत्' (वह) और 'त्वम्' (तुम) शब्दों का एकत्व वाच्यार्थ में नहीं, अपितु लक्ष्यार्थ की दृष्टि से बताया गया है।

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो
न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः ।
ईशस्य माया महदादिकारणं
जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम् ।।२४३।।

अन्वय – तयोः अयं विरोधः उपाधि-कल्पितः न वास्तवः। कश्चित् उपाधिः एषः ईशस्य माया महद्-आदि-कारणं जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम्।

अर्थ – इन दोनों 'तत्' (वह/ब्रह्म) तथा 'त्वम्' (तुम/जीव) के बीच जो भेद है, वह वास्तविक नहीं, अपितु उपाधि द्वारा कल्पित मात्र है। यदि पूछो कि यह उपाधि क्या है? तो महत् आदि तत्त्वों की कारणभूत माया ईश्वर की उपाधि है और कार्यरूप पंचकोश जीव की उपाधि है।

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः
सम्यङ्निरासे न परो न जीवः ।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-
स्तयोरपोहे न भटो न राजा ।।२४४।।

अन्वय – पर-जीवयोः एतौ उपाधी, तयोः सम्यक् निरासे, न परः न जीवः, नरेन्द्रस्य राज्यं भटस्य खेटकः तयोः अपोहे, न राजा न भटः।

अर्थ – परमात्मा तथा जीव की ये जो (माया तथा अविद्या-पंचकोश) उपाधियाँ हैं, इनका भलीभाँति निराकरण हो जाने पर, न परमात्मा रह जाता है और न जीव। (अखण्ड शुद्ध चैतन्य मात्र रह जाता है)। जैसे राजा की उपाधि राज्य है और सैनिक की उपाधि ढाल है। उनसे राज्य तथा ढाल रूपी उपाधियों को हटा लेने पर न राजा रह जाता है और न सैनिक ही रह जाता है।

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं
निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम् ।
श्रुतिप्रमाणानुगृहीतबोधा-
त्तयोर्निरासः करणीय एव ।।२४५।।

अन्वय – 'अथातो आदेशः' इति श्रुतिः स्वयं ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम् निषेधति। श्रुति-प्रमाण-अनुगृहीत-बोधात् तयोः निरासः करणीयः एव।

अर्थ – 'अथातो आदेश' (अब यह आदेश है)* – कह कर श्रुति स्वयं ही ब्रह्म में कल्पित द्वितीय वस्तु का निषेध करती है। श्रुति-प्रमाणों द्वारा समर्थित बुद्धि से (अविद्या तथा पंचकोश) इन दोनों का निराकरण अवश्य करना चाहिये।

* बृहदारण्यक. २/३/६

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा (बिहार) में त्रिदिवसीय धर्म-सभा का आयोजन

छपरा के रामकृष्ण मिशन आश्रम में १८ से २० फरवरी (२०११) के दौरान 'प्रार्थना-कक्ष', 'स्वामी विवेकानन्द सार्ध-शताब्दी हॉल' तथा स्वामी 'रंगनाथानन्द भवन' के के उद्घाटन के शुभ अवसर पर एक त्रिदिवसीय समारोह आयोजित हुआ था।

समारोह के एक दिन पूर्व १७ फरवरी को नये पाकशाला तथा भोजनालय भवन और साधु-निवास का उद्घाटन सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर 'अद्भुतानन्द शिक्षायन' के विद्यार्थियों द्वारा रंगारंग सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन भी किया गया।

१८ फरवरी को प्रात: ५ बजे मंगल आरती के बाद नवनिर्मित मंदिर में विशेष पूजा-अर्चना की गई। सभा के पहले सत्र में आगत संन्यासियों एवं सज्जनों का स्वागत करते हुए आश्रम के सचिव स्वामी असीमात्मानन्द जी ने माघ-पूर्णिमा को स्वामी अदभुतानन्द (लाटू महाराज) का जन्मतिथि बताते हुए छपरा का महत्त्व रेखांकित किया।

प्रथम सत्र में नागपुर रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मस्थानन्द जी ने बेलूड़ मठ के महाध्यक्ष स्वामी आत्मास्थानन्द जी महाराज द्वारा प्रेषित शुभकामना सन्देश को पढ़कर सुनाया। इसके बाद बेलूड़ मठ के महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी महाराज ने इस अवसर पर प्रकाशित स्मारिका का लोकार्पण करते हुये आशीर्वचन दिये। बिहार के पूर्व पुलिस महानिदेशक श्री डी. एन. गौतम ने कहा – "लाटू महाराज एक ऐसे सुगम आधार थे, जिनमें भगवान निवास कर सकते थे।"

अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी प्रभानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण को चमत्कारी सन्त बताते हुए कहा कि उनकी जीवनी के लेखक भी यह स्पष्ट नहीं कर सके कि रामकृष्ण वस्तुत: कौन थे। छपरा आश्रम के पूर्व सचिव स्वामी रघुनाथानन्द जी तथा रामकृष्ण मिशन, पटना के सचिव स्वामी तद्गतानन्द जी ने भी अपने विचार व्यक्त किए। आश्रम के संस्थापक डॉ. केदारनाथ लाभ जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

दूसरे सत्र की अध्यक्षता करते हुए रामकृष्ण संघ के न्यासी स्वामी गौतमानन्द जी ने इस आश्रम तथा समारोह के प्रति अपनी शुभकामना दी। दूसरे न्यासी स्वामी गिरीशानन्द जी तथा औरंगाबाद आश्रम के सचिव स्वामी विष्णुपदानन्द जी ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए। दोनों सत्रों के समापन पर भजन प्रस्तुत किये गये।

१९ फरवरी के पहले सत्र की अध्यक्षता रॉची स्थित रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी शशांकानन्द जी ने की। स्वामी ब्रह्मस्थानन्द जी ने माँ सारदा के चरित्र की विशेषता बतायी, "ठाकुर उन्हें अपनी शक्ति कहा करते थे, क्योंकि वे माँ को अखिल ब्रह्माण्ड की जननी मानते थे।" मुजफ्फरपुर रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी भावात्मानन्द जी ने कहा, "लाटू महाराज को ज्ञात था कि तर्क से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए उन्होंने ठाकुर से कभी तर्क नहीं किया। वे सदा समर्पित रहे।" रामकृष्ण मिशन सैनिटोरियम, राँची के सचिव स्वामी पूर्णानन्द जी ने लाटू महाराज को आत्मविद् बताते हुए कहा, "उन्होंने पोथी पढ़कर नहीं, वरन् अनुभूति के द्वारा शास्त्रीय परिणाम प्राप्त किया था। वे बोले, "प्रभु का स्मरण करते-करते भक्तों की बुद्धि प्रखर हो जाती है। लाटू महाराज भी प्रखर बुद्धि के थे।"

अध्यक्षीय भाषण में स्वामी शशांकानन्द जी ने ठाकुर की तुलना पारसमणि से करते हुए कहा कि उनकी कृपा से एक गड़ेरिया बालक सन्त अद्भुतानन्द में परिणत हो गया। ठाकुर का अवतार इसलिए हुआ था कि मनुष्य अपने भीतर की शक्ति को पहचान सके। दूसरे सत्र में इलाहाबाद मठ के अध्यक्ष स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने 'राम-चरित-मानस' पर बोलते हुए कहा, "तुलसी के राम परमात्मा के अवतार थे, जबकि वाल्मीकि के राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे।"

तीसरे दिन २० फरवरी को युवा-सम्मेलन के प्रथम सत्र की अध्यक्षता स्वामी गौतमानन्द जी ने की। बड़ोदरा आश्रम के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने अपनी ओजस्वी वाणी में युवकों का आह्वान करते हुए कहा, "वही जीते हैं जो दूसरों की सेवा करते हैं, शेष तो मुर्दे के समान हैं। भारत से भ्रष्टाचार दूर करने में यहाँ के युवा ही सक्षम हैं।" सारण के जिला एवं सत्र न्यायाधीश श्री विजय प्रकाश मिश्र ने कहा, "स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व से कुछ भी लिया जाय, तो व्यक्तित्व का विकास हो सकता है और ऐसा करने पर ही भ्रष्टाचार का नाश होगा और आदर्श समाज बन सकेगा।" विशाखापट्टनम आश्रम से आये स्वामी गुणेशानन्द जी ने वर्तमान परिदृश्य पर चुटकी लेते हुए कहा कि पुराना नारा था – 'मैन मेकिंग तथा कैरेक्टर बिल्डिंग' अब हो गया है 'मनी मेकिंग तथा कैरियर बिल्डिंग'।"

विशेष रूप से उपस्थित बिहार सरकार के श्रम संसाधन मंत्री जनार्दन सिंह सीग्रीवाल ने आश्रम द्वारा संचालित कार्यों की प्रशंसा करते हुए कहा कि यदि इसकी स्थापना नहीं हुई होती, तो आध्यात्मिक चेतना का यहाँ इस तरह विकास भी नहीं हुआ होता। इसकी स्थापना से छपरा को एक सशक्त सर्वधर्म समन्वित आध्यात्मिक मंच मिला है। यदि मनुष्यता विकसित हो, तो 'मनी' स्वयं आ जाएगा। अध्यक्षीय भाषण में स्वामी गौतमानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द को युवकों का आदर्श बताते हुए उनका अनुकरण करने की सलाह दी।

अंतिम दिन के द्वितीय सत्र में पुन: स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने राम-चरित-मानस के अनेक रोचक प्रसंगों की चर्चा की और भक्त समुदाय को भाव विभोर कर दिया। समापन पटना के राकेश कुमार द्वारा भजन से हुआ। इस त्रिदिवसीय समारोह ने यहाँ के भक्तों, युवकों तथा अन्य लोगों में एक नये उत्साह तथा ऊर्जा का संचार किया।

अपील

Ramakrishna Math,
Nattaramapalli, Vellore District,
Tamilnadu 635 852
Phone : 04179 - 242227

प्रिय महोदय,

नमस्कार,

रामकृष्ण मठ, नटरम्पल्ली, ज्लिा – वेल्लोर (तमिलनाडु), बेलूड़ (पश्चिम बंगाल) स्थित रामकृष्ण मठ तथा मिशन का एक शाखा केन्द्र है। यह आश्रम १९०८ ई. में आरम्भ हुआ। तबसे लेकर यह नटरम्पल्ली के आसपास के १२८ गाँवों के निर्धन ग्रमीणों की सेवा में लगा हुआ है। मुख्यत: उन लोगों की स्वास्थ्य सेवाओं तथा शैक्षणिक आवश्यकताओं के अभावों की पूर्ति के लिये कार्य किया जाता है। विगत ३२ वर्षो से हम लोग स्वामी शिवानन्द के नाम पर एक अनाथ-छात्रावास चला रहे हैं। यह छात्रावास मठ की प्रमुख गतिविधियों में से एक है। निर्धन ग्रामीण परिवारों के ५० बच्चे हमारे अनाथ छात्रावास में रहकर अपनी व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति करने का सुअवसर प्राप्त करते हैं। उन्हें भोजन वस्त्र तथा आवास की व्यवस्था के साथ ही चिकित्सकीय सुविधा भी दी जाती है। इसके अतिरिक्त उनके पाठ्यक्रम के अनुसार विशेष कोचिंग भी दी जाती है। छात्रों के पंचवर्षीय आश्रम-वास के दौरान ये सारी सुविधायें उन्हें नि:शुल्क प्रदान की जाती हैं। यद्यपि छात्रों की भर्ती छठवीं से दसवीं तक की पढ़ाई के लिए पाँच वर्षो के लिए की जाती है, तथापि हम अधिक-से-अधिक बच्चों को उसके बाद भी उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक पाठयक्रमों की पढ़ाई जारी रखने हेतु छात्रावास में ठहरने की अनुमति प्रदान करते हैं।

अभी तक अनाथालय तथा उसके भोजनालय के लिये अलग से कोई उपयुक्त भवन नहीं था। धनाभाव के कारण ही हम उनके लिए भवन-निर्माण की योजना को क्रियान्वित नहीं कर सके हैं। अब स्वामी विवेकानन्द जी की १५० वीं जन्मतिथि (१८६३-२०१३) के अवसर पर छात्रावास के लिए एक भवन-निर्माण करने का संकल्प लिया गया है, जिसमें रहकर बच्चे उत्साहपूर्वक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें। भवन की लागत लगभग ६० लाख होगी।

यह आश्रम पिछड़े ग्रामीण परिवेश में स्थित होने के कारण स्थानीय लोगों के पास से इस राशि का संग्रह संभव नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में हमारा आपसे हार्दिक अनुरोध है कि इस परियोजना के लिये आप उदारता -पूर्वक दान करें। हमारा यह भी अनुरोध है कि श्रीरामकृष्ण का दिव्य सन्देश आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों तक भी पहुचायें और इन उत्कृष्ट कार्यो में आर्थिक सहायता करने को प्रेरित करें।

इस परियोजना के लिए आप अपना दान चेक, डी. डी. या मनीआर्डर के द्वारा Ramakrishna Math, Nattaramapalli के नाम से भेज सकते हैं।

सभी दान आयकार की धारा ८०-जी के अन्तर्गत कर मुक्त हैं।

धन्यवाद तथा शुभकामनाओं सहित

प्रभु की सेवा में

दिनांक - अप्रैल २०११

स्वामी त्यागराजानन्द